प्रेमशंकर

सृजन और समीक्षा

हेन्दी में यह स्थिति ठीक नहीं रही कि अरसे तक सृजन
समीक्षा को अलग-अलग टुकड़ों में रखकर देखा गया।
। दोनों की हानि हुई। कई बार सृजन भावाकुल होकर
गया और समीक्षा या तो भाववाद में उलझ गई अथवा
कथित मौलिकता में अप्रासंगिक। पूर्वाग्रहों के कारण
क्षा की साख गिरी और लेखक ने पाठक को सीधे ही
ोधित करने का प्रयत्न किया। दरअसल सृजन और समीक्षा
दूसरे को पुष्ट करते हैं। इस दृष्टि से सार्थक सृजन जीवन
टोलते हुए, उसे संवेदन के स्तर पर प्राप्त करता है, पर
व्यक्ति के क्षण में वह परीक्षा-समीक्षा भी करता है। इसी
र महत्त्वपूर्ण समीक्षा रचना से ईमानदारी से भेंट करती
ार जीवन संदर्भ में रखकर उसका मूल्यांकन करती है।
लए 'सृजनात्मक समीक्षा' अथवा आलोचना की रचना-
' की बात की जाती है।
ृजन, समीक्षा के सम्बन्धों पर विचार करते हुए निस्संकोच
जा सकता है कि उनके आपसी संवाद से दोनों को समृद्धि
ती है। संवाद की प्रक्रिया जब लड़खड़ाती है तो दोनों का
होता है। सार्थक लेखक जीवन की समीक्षा भी है, क्योंकि
उसे नया रूपान्तरण देना चाहता है। सृजन की तरह
ा की भी सर्जन-यात्रा होती है, क्योंकि समीक्षक जागरूक
है। वह रचना और वृहत्तर समुदाय के बीच महत्त्वपूर्ण
ा कार्य करता है। समय-समाज के दबाव दोनों को
ंत करते हैं और इस दृष्टि से उनमें कालखंड की
थति तलाशी जा सकती है। पर सही सृजन-समीक्षा का
ाहीं नहीं रुक जाता, वे लम्बी यात्रा करते हैं, एक सार्थक
रा बनाते हुए। सृजन और समीक्षा के सम्बन्धों पर
दारी से विचार करती यह पुस्तक।

सृजन और समीक्षा

हि
और
इससे
रह ग
तथाव
समीक्ष
सम्बो
एक-द
को ट
अभि
प्रका
है औ
इसी
यात्रा
स
वह
समी
पाठ
सेतु
प्रभ
उप
वृत्त
पर
ईम

सृजन और समीक्षा
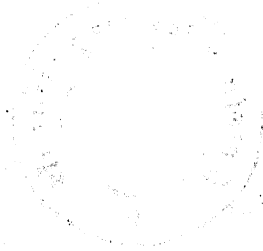
प्रेमशंकर

प्रकाशन संस्थान
नयी दिल्ली-110002

दीक्षागुरु :
ठाकुर जयदेवसिंह
आचार्य नरेन्द्रदेव
की स्मृति को सप्रणाम

पाठकों से

सृजन और समीक्षा के सम्बन्धों को लेकर कुछ प्रश्न मुझमें उठते रहे हैं। इच्छा थी कि इन्हें किंचित विस्तार देकर पूर्णता पर पहुंचाऊं, पर जीवन की उलझनों में ऐसा न हो सका और ये अधूरे विचार आपके सामने हैं। संभव है फिर कभी इस क्रम को आगे बढ़ाऊं। भाई नामवरसिंह का विशेष रूप से कृतज्ञ हूं जिन्होंने मेरे विचारों को 'आलोचना' में स्थान दिया। पुस्तक में कुछ बातें एक से अधिक बार आयी हैं, आशा है इसके लिए सहृदय पाठक मुझे क्षमा कर देंगे क्योंकि स्वयं को अब भी यात्रा के दौर में पाता हूं।

सागर विश्वविद्यालय
दीपावली 1987

प्रेमशंकर

अनुक्रम

1. रचना की भारतीय अवधारणा	9
2. नयी रचना का संकट	17
3. साहित्य और सामाजिक दायित्व	26
4. प्रेषणीयता का प्रश्न	36
5. सृजन और समीक्षा	43
6. आलोचना की सामाजिकता	54
7. समकालीन आलोचना : कुछ प्रश्न	62
8. नवलेखन और हिन्दी समीक्षा	76
9. हिन्दी समीक्षा के नये संदर्भ	89

रचना की भारतीय अवधारणा

कहा जाता है कि रचना प्रादेशिक इकाइयों, प्रांतीय भाषाओं, यहां तक कि जनपदीय बोलियों तक में सक्रिय है, पर उसका कोई समग्र रूप नहीं है जिसे हम भारतीय रचनाशीलता कह सकें। निश्चय ही यह कठिनाई उस समय नहीं थी जब संस्कृत मुख्य रचना-माध्यम थी और बाल्मीकि, व्यास अथवा कालिदास भारतीय सर्जना के प्रतिनिधि स्वर के रूप में स्वीकृत थे। जनभाषाएं पहले भी सक्रिय थीं पर मध्यकालीन जागरण में भारतीय भाषाओं में नयी सक्रियता आई और सामंती परिवेश में उसे राजकीय संरक्षण भी मिला। छठी से नवीं ई० तक तमिल आलवार संतों ने प्रार्थनापरक गीतों के माध्यम से अपनी भक्तिभावना का प्रकाशन किया जिन्हें कुछ समय बाद आचार्य नाथमुनि ने 'दिव्यप्रबंधम्' नाम से संकलित किया। दार्शनिक-वैचारिक व्याख्याओं की पृथक्ता, द्वैत-अद्वैत-द्वैताद्वैत आदि के बावजूद धर्म किसी सीमा तक एक ऐसा समन्वयसूत्र था कि भारतीय रचनाशीलता उसे केन्द्र में रखकर, अरसे तक क्रियाशील रही। जब बौद्ध-जैन मत से ब्राह्मणवाद को गंभीर चुनौती मिली, तब धर्म की इस केन्द्रीयता में ईश्वर-संबंधी अवधारणाओं को लेकर किंचित अंतर आया। पर क्रांतिकारी वैचारिकता की संभावनाओं वाले इन धार्मिक आन्दोलनों की एक दुखद परिणति हुई कि वे स्वयं सम्प्रदायों में विभाजित होकर, विचित्र प्रकार की प्रतिक्रांति के शिकार हो गए और उनकी क्रांतिधर्मिता शिथिल पड़ गई। स्थिति यह है कि ब्राह्मणवाद का विरोध करने वाले विद्रोही दर्शन आगे चलकर स्वयं अपने पुरोहितवाद में फंस गये क्रांति-प्रतिक्रांति का उदाहरण बनकर। बौद्ध-जैन धर्म के विभाजन इसका प्रमाण हैं।

प्राचीन भारत में रचना की भारतीय अवधारणा के मूल में जो धार्मिक दृष्टि काम करती है, उसने उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम को एक सूत्र में बांधे रखा जिसे अक्सर 'अनेकता में एकता' कहा जाता है, लंबी-चौड़ी भौगोलिक इकाई, विविध भाषा-भाषी समाज, घनघोर जाति-उपजाति व्यवस्था के बावजूद भारतीय रचना

की अवधारणा उस समय विकसित हो सकी, कम-से-कम उत्तर में हर्षवर्धन और दक्षिण में पुलकेशिन द्वितीय तक, सातवीं शती के मध्य तक यही स्थिति थी। आठवीं शती के आरंभ में मुहम्मद बिन कासिम ने सिंध पर आक्रमण किया और धीरे-धीरे भारत एक नये धर्म के सम्पर्क में आया जिसकी विचारधारा कई मायनों में बिल्कुल भिन्न थी। पर बाहर से आए आक्रमणकारी जब बारहवीं शती के अंत में यहीं के बाशिंदे हो गए तो मेल-जोल की, सांस्कृतिक विनिमय की नयी प्रक्रिया को गति मिली जो अकबर के 'सुलहकुल' अथवा 'दीनइलाही' में अपनी पूर्णता पर पहुंची। भक्तिकाव्य इन्हीं सामाजिक स्थितियों में विकसित हुआ—देश के एक छोर से लेकर दूसरे तक। भारतीय उपमहाद्वीप में तीसरा दौर योरोपीय साम्राज्यवाद के आगमन, विशेषतया ब्रिटिश सत्ता के स्थायीकरण के साथ शुरू होता है—1757 के प्लासी युद्ध तथा 1857 की क्रांति के बाद। आज़ादी के बाद हम फिर एक नये युग में प्रवेश करते हैं।

इतिहास के इन विभिन्न चरणों में भारतीय रचना की अवधारणा बदलती रही है और संस्कृत का वर्चस्व टूटने के बाद प्रादेशिक भाषाओं को आगे आने का अवसर मिला। इसके लिए प्रायः सल्तनतकाल तथा मुगलकाल का उल्लेख किया जाता है जब सूबेदार अथवा प्रान्तपति अपने सूबों में प्रादेशिक भाषाओं को प्रश्रय दे रहे थे। दक्खिनी हिन्दी का इतिहास स्वयं इसका प्रमाण है। अवधी में रचना करते हुए मलिक मुहम्मद जायसी ने शाहे-वक्त के रूप में शेरशाह का उल्लेख किया है: 'शेरसाहि देहली-सुलतानू। चारिउ खंड तपै जस भानू'। प्रारंभ में प्रान्तीय भाषाओं में जो श्रेष्ठ काव्य रचे गये उनका आधार रामायण तथा महाभारत थे और इस प्रकार काव्यनायक के रूप में राम और कृष्ण की स्वीकृति बनी रही। ...वीं शताब्दी में तमिल की कम्ब रामायण इसका एक प्रमाण है, यद्यपि उसका ...र दूसरा है। पर इतिहास-पुराण में कल्पना, रोमांस का उपयोग करते हुए सूफ़ी ...यों ने काव्य की प्रेमाख्यानक परम्परा को विकसित किया। प्रान्तीय भाषाओं ...सक्रियता के मूल में भारतीय अवधारणा मौजूद थी, इससे इनकार नहीं किया ...सकता। इसका एक कारण वह देववाद भी है जो लगभग पूरे महादेश में, ...व्या की किंचित् पृथकता के साथ मौजूद रहा है। जैसे दक्षिण में अरसे तक ...र्म का प्रभुत्व रहा और सुदूर उत्तर में काश्मीर में शैवधर्म की प्रत्यभिज्ञा ...ा विकसित हुई। इसी प्रकार प्रस्थानत्रयी और फिर चतुर्थ प्रस्थान भागवत् ...ेकर पृथक् व्याख्याएं की जाने लगीं। चार प्रमुख सम्प्रदाय बने—रामानुज, ...ाचार्य, निम्बार्क तथा विष्णुस्वामी के। चौदहवीं शताब्दी में रामानन्द ने भक्ति ...क नयी सामाजिकता दी और महत्त्वपूर्ण सुधारक का कार्य किया। इसी बीच ...ाचार्य का तेजस्वी व्यक्तित्व संस्थित है जिनकी वेदान्ती व्याख्या से अपनी ...मति व्यक्त करने के लिए लगभग सभी भक्ति सम्प्रदाय सक्रिय हुए।

भक्ति आन्दोलन के उत्स रूप में आलवार संतों के पद हैं जिसका एक विचारणीय पक्ष यह है कि दक्षिण के आचार्यों ने उत्तर की लंबी यात्राएं कीं और इस प्रकार महादेश में लगभग सांस्कृतिक सेतु का कार्य किया। भक्ति को केन्द्र में रखकर भारतीयता की एक समग्र धारणा विकसित हुई, यद्यपि विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं में रचना क्रियाशील थी और उसका वैशिष्ट्य वहां मौजूद है। बंगाल तथा पूर्वांचल की भक्तिभावना में रागात्मक समर्पण की प्रधानता है जिसे कीर्तनभाव में देखा जा सकता है। चैतन्य महाप्रभु ने षट्गोस्वामियों के माध्यम से पूर्वांचल को ब्रजमण्डल से जोड़ दिया और ब्रजबुलि नाम से एक नये भाषा-माध्यम का भी उदय हुआ। महाराष्ट्र में निराकारी उपासना की प्रमुखता है, इसीलिए वहां सामाजिक सुधार तीव्र गति से हुए। दक्षिण में एक सम्मिलित स्थिति है और वहां देवमंदिरों को केन्द्र में रखकर भक्ति विकसित हुई। उत्तर भी कर्मकाण्ड से मुक्त नहीं हो सका, यद्यपि यहां कबीर जैसे विद्रोही कवि हैं और सूफ़ी कवियों का उदार समन्वय पंथ भी।

भारत में इस्लाम-प्रवेश के पहले दौर में जो टकराहट थी, उसका एक प्रमुख कारण यह था कि जो नयी संस्कृति आई वह स्थानीय देशज चरित्र से कई अर्थों में भिन्न थी—विशेषतया अवतारवादी धारणा को लेकर। पर धीरे-धीरे जब सांस्कृतिक आदान-प्रदान की प्रक्रिया आगे बढ़ी और उसे राज्य का संरक्षण भी मिला, तब मेल-जोल का एक सही वातावरण निर्मित हुआ। इस विषय में सूफ़ियों की प्रमुख भूमिका है, सिन्ध-राजस्थान से लेकर वे उत्तर भारत तक अपना विशेष प्रभाव स्थापित करते हैं। जिसे हुमायूं आदि का उदारपंथी सूफ़ियाना अंदाज कहा जाता है, उसे तत्कालीन भारतीय रचनाशीलता में देखा जा सकता है। मध्यकाल में रचना की भारतीय अवधारणा अकबर जैसे उदार शासक के समय में अपनी पूर्णता पर पहुंचती है। सर्वधर्म-समन्वय की चेष्टा में वह 'सुलहकुल' अथवा 'दीनइलाही' की स्थापना करता है, यद्यपि इसे वह सामंती परिवेश से बाहर नहीं निकाल पाता। भक्ति आन्दोलन को इसी अर्थ में जनान्दोलन कहकर सम्बोधित किया गया कि देश के एक छोर से लेकर दूसरे तक भक्ति-चेतना का व्यापक प्रसार हुआ। इसका एक कारण केन्द्रीय सामंतवाद भी हो सकता है जिसके संरक्षण में इसे विकास मिला, विशेषतया प्रादेशिक भाषाओं में। पर इसमें मुख्य अवदान उस सांस्कृतिक मेल-जोल का है जिसमें भक्ति रचनाएं उपजी हैं। वह पराभव का नहीं, विश्वास का स्वर है।

सत्रहवीं शताब्दी के मध्यभाग से केन्द्रीय सत्ता कई तरह की चुनौतियों से गुजरती है और सामन्तवाद के अन्तर्विरोध उभरने लगते हैं। इसे कई बार सरलीकृत करके गलत ढंग से प्रस्तुत किया जाता है, मसलन यह कहना कि औरंगज़ेब की गलत नीतियों के कारण मुग़ल साम्राज्य के विखंडन की प्रक्रिया

आरंभ हुई और विदेशी सत्ताओं को भारत में प्रवेश का अवसर मिला जबकि स्थिति यह है कि सामान्ती अन्तर्विरोध उभरने लगे और भारतीय समाज छोटी-छोटी इकाइयों में विभाजित हो गया। टूटन और बिखराव की इस स्थिति में रचना की भारतीय अवधारणा संभव नहीं। यहां यह संकेत कर देना भी आवश्यक है कि भक्ति आन्दोलन के सर्वोत्तम दौर में रचना की सभी इकाइयां, विभिन्न कलाएं एक-दूसरे से संवाद की स्थिति में हैं और हम रचनाशीलता का एक समग्र संसार उभरते हुए देखते हैं। पर जब वह तार टूटता है तो बिखराव की प्रक्रिया तेज़ हो जाती है। मन्दिरों में कीर्तन-भजन की प्रक्रिया चलती रही, पर छोटे सामन्तों के पास ऐसे साधन न थे कि वे कला की किसी विराट कल्पना को साकार कर सकें। कलाओं में यह संकुचन स्वयं बताता है कि भारतीयता की अवधारणा दुर्बल थी। ऐसे में हम कालिदास के 'रघुवंश' की कल्पना नहीं कर सकते जहां काव्य के आरम्भ में ही रघुवंशियों के लिए कहा गया है कि 'वे प्रतापी थे और उनका चरित्र निष्कलंक था। उनका राज्य समुद्र के ओर-छोर तक फैला था और उनके रथ पृथ्वी से स्वर्ग तक की यात्रा करते थे।' सत्रहवीं शताब्दी के मध्य भाग से लेकर सन् 1857 के भारत के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम तक रचना की भारतीय अवधारणा दुर्बल है और एक समाजव्यापी दृष्टि के स्थान पर क्षयी शरीरवाद की भावना छोटे-छोटे सामन्तों का मनोरंजन करती दिखाई देती है। कलात्मकता के बावजूद उसके जीवन-स्पंदन कमज़ोर हैं और वह वृहत्तर समाज का प्रतिनिधित्व करने वाली रचना नहीं है।

बहुभाषा-भाषी समाज में रचना की समग्र अवधारणा का काम जटिल होता है और उसमें स्थानीय दबाव भी मौजूद रहते हैं, उसका एक अपना रूप-रंग होता है। जैसे आदिवासी यायावरी संस्कृतियों वाले पूर्वी योरप में औद्योगीकरण के बावजूद रचना का अपना देशज चरित्र है। भारत में सत्रहवीं शती के मध्यभाग से लेकर उन्नीसवीं शती के मध्य तक हमारा सामन्ती समाज पश्चिम की औद्योगिक संस्कृति के सम्पर्क में आता है और प्लासी का युद्ध जीतकर ब्रिटिश सत्ता इसे फैलाव देती है। जब यह सत्ता 1857 के विद्रोह के बाद केन्द्रीकृत होती है तो एक ओर साम्राज्यवादी शिकंजा मजबूत होता है और दूसरी ओर राष्ट्रीय भावनाओं में एक नया उफान आता है। भावात्मक स्तर पर ही सही, विभिन्न प्रादेशिक इकाइयों और भाषाओं में बंटा भारतीय समाज राजनीतिक स्तर पर कहीं जुड़ता दिखाई देता है। जगह-जगह समाज-सुधार के आन्दोलन होते हैं और पढ़ा-लिखा मध्यवर्ग स्वयं को समाज में सक्रिय करना चाहता है। गांधी हमारे आन्दोलन को एक जनोन्मुखता देते हैं और जो नैतिक आग्रह तथा आदर्शवादी धारणाएं उनके चिन्तन की सीमा-रेखा कही जाती हैं, उन्हीं से ग्रामजन उन्हें महात्मा के रूप में स्वीकारते हैं। धर्म का राजनीति में पर्यवसान होता है पर एक अन्तर्विरोध यह कि दूसरी

और देश में साम्प्रदायिकता के रूप में धर्म की राजनीति चल निकलती है जिसकी परिणति भारतीय उपमहाद्वीप के विभाजन में हुई और पृथकतावादी तथा साम्प्रदायिक शक्तियां आज भी जीवित हैं।

भारतीयता की आधुनिक अवधारणा में गांधी का योगदान अपनी सीमाओं में कितना महत्त्वपूर्ण है, इसे केवल राजनीति के सहारे नहीं समझा जा सकता। गांधी ने एक समग्र दर्शन पाने की कोशिश की और राजनीति उसका एक छोटा हिस्सा है। मध्ययुगीन सामंती समाज में पला भारत हर प्रकार के शरीरवाद में बंधा था—नारी के प्रति संकुचित दृष्टि और जातिवाद से लेकर हिंसा के विभिन्न रूपों तक। गांधी ने जीवन को कर्म से जोड़ा और कहा कि खाने का अधिकार उसे है जो काम करे। स्वावलम्बन का यह भाव व्यक्तित्व को स्वयं-सम्पूर्णता देता है और ज़िंदगी कर्मठता की राह अपनाती है। अल्लाह-राम की बात करते हुए उन्होंने दो प्रमुख संप्रदायों को पास लाने का यत्न किया और 'हरिजन' का पद देकर अस्पृश्यों को हीनभावना से उबारा। गांधी का सोच-विचार ग्रामजन का है जिसकी आदर्शवादी रेखाएं बहुत साफ़ हैं। उन्होने हमारी सामन्तकालीन हिंसा को रचनात्मक मोड़ देने का प्रयत्न किया—अहिंसा का सक्रिय दर्शन दिया, उसे नैतिक-आध्यात्मिक साहसवालों का दर्शन कहा। अपनी सदाशयता में गांधी ने हृदय-परिवर्तन, ट्रस्टीशिप आदि की बात की जो वर्गसंघर्ष की अवधारणा से मेल नहीं खाती। गांधी ने भारतीय समाज को एकता के सूत्र में बांधने का प्रयत्न किया और देश का एक समग्र व्यक्तित्व उभरकर आया। प्रांत और भाषा की सीमाएं टूटीं, आधुनिक युग में एक नयी भारतीयता का उदय हुआ जिसे सांस्कृतिक स्तर पर भारतीय नवजागरण कहा जाता है। नयी भारतीय अवधारणा जन्मी और रवीन्द्र जैसे सर्जक इसकी सर्वोत्तम उपज कहे जा सकते हैं। राजा राममोहन राय से लेकर गांधी युग तक इसका प्रसार है।

गांधी युग में भारतीयता की नयी अवधारणा बनती है जब राजनीतिक स्तर पर समाज एकजुट होता दिखाई देता है। लक्ष्य सामने है—विदेशी शासन से मुक्ति। भारतीय परम्परा और इतिहास पर नयी दृष्टि डाली जाती है, उसकी पुनर्व्याख्या के प्रयत्न होते हैं। हमारा रिक्थ हमें एक नया आत्मविश्वास देता है, हम कई प्रकार की हीनभावना से मुक्त होते हैं। रवीन्द्र 'भारततीर्थ' नामक अपनी कविता में कहते हैं—'उसी होमाग्नि में देखो, आज लाल लपट उठ रही है / इसे सहना होगा, मर्म में दहना होगा, यही भाग्य में लिखा है / हे मेरे मन, इस दुख को वहन करो, / सुनो, एक ही पुकार सुनो / जो भी लाज है, जो भी भय है सबको जीतो, अपमान दूर हो / यह दुःसह व्यथा जाती रहेगी, / फिर कैसा विशाल प्राण जन्म लेगा / रात बीत रही है, विशाल नीड़ में जननी जाग रही है—/ इस भारत के महामानव के सागर तट पर।' जो नई भारतीयता जन्म लेती है, उसमें प्रादेशिक

सीमाएं टूटती दिखाई देती हैं। भक्तिकाव्य में अवतार और उदारवादी चेतना के समान मिलनसूत्र थे, आधुनिक युग के जागरणकाल में भारतजननी की कल्पना जोर पकड़ती है। सुब्रह्मण्य भारती पुनर्जागरण युग के प्रखर राष्ट्रवादी कवि हैं : यह महान् हिमवान् हमारा है—/ इसकी कोई उपमा संसार में नहीं है / यह स्नेहमयी गंगा हमारी है—/ अन्य कौन -सी नदी इतनी गौरवमयी है? पावन उपनिषद् हमारे हैं / इनके समान पुण्यग्रंथ और कहां है ? / यह सुनहली भूमि हमारी है / यह अद्वितीय है / आओ, हम इसका गुणगान करें। राष्ट्रीयता और सुधारवाद की भावनाएं आधुनिक रचनाशीलता की भारतीय अवधारणा बनाती है और बंकिम से लेकर प्रेमचन्द तक में इसे देखा जा सकता है। ये अवधारणाएं नवमानववाद से जुड़ जाती हैं।

आधुनिक साहित्य में राष्ट्रीयता और सुधारवाद के साथ एक दूसरी धारा भी क्रियाशील रही है जिसे हम रूमानी अथवा स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति कहते हैं। पूंजीवादी समाज तथा मध्यवर्ग के अधिक प्रभावी होने में व्यक्तिगत आज़ादी की माँग बढ़ती है और एक नये प्रकार का व्यक्तिवाद पनपता है। रूमानी प्रवृत्तियां इन्हीं स्थितियों की देन हैं, यद्यपि भारत के परतंत्र समाज में इनका स्वरूप दूसरा है और इसका एक मानवीय-सांस्कृतिक पक्ष भी है, विशेषतया निराला जैसे कवियों में। रवीन्द्र और उनके समकालीन बंगला कवि स्वच्छन्दतावाद के सर्वोत्तम उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं। अन्य भारतीय भाषाओं में भी स्वच्छन्दतावादी रूमानी प्रवृत्तियां सक्रिय रही हैं जैसे मलयालम में कुमारन् आशान। आशान की प्रेम कविताओं के अतिरिक्त उनकी अन्तिम महत्त्वपूर्ण कृति है 'करुणा' जिसे समीक्षक कवि के समग्र व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति भी कहते हैं। इसमें वासवदत्ता तथा उपगुप्त की कथा कही गई है। एक सम्पूर्ण रूपचित्र की अन्तिम पंक्तियां हैं : वह चली गई / जैसे तट पर कुछ रुकने के बाद / एक हंसिनी लजीलेपन से घम / वापस अपने सरोवर में चली जाए। स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों को राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम के संदर्भ में रखकर देख सकने में कठिनाई होती है और प्रश्न का सही उत्तर भी नहीं मिल पाता। पर समाज की व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों के संदर्भ में इसे समझा जा सकता है। भारतीय परिवेश में इसका वैशिष्ट्य यह कि इसकी सांस्कृतिक अवधारणाएं भी हैं जो लंबी कविताओं में विशेष रूप से व्यक्त होती हैं। रवीन्द्र की प्रसिद्ध कविता 'उर्वशी' की पंक्तियां हैं : हे उर्वशी वृत्तहीन पुष्प के समान / अपने-आप विकसित होकर तुम कब प्रस्फुटित हुईं / आदिम वसंत के प्रातःकाल में निकली थीं तुम मंथित सागर से / दक्षिण कर में सुधा-पात्र, वाम कर में विषघट लिये हुए / तरंगित महासिंधु मंत्र शांत भुजंग की तरह / लक्ष शत उच्छ्वसित फनों को झुकाकर / चरणों में पड़ा हुआ था / नग्नकांति, कुन्द कली की तरह शुभ्र / तुम सदा अनिन्दिता हो, हे सुरेन्द्र वन्दिता।

आशा की जाती थी कि आज़ादी के आस-पास, विशेषतया सन् '47 के बाद हमारी भारतीय अवधारणा में गुणात्मक परिवर्तन आएगा और इस दिशा में गांधी युग की उपलब्धियों को विकास मिलेगा। स्वतंत्रता समता के बिना अधूरी है, इसका अहसास आज़ादी की लड़ाई में भाग लेने वाले व्यक्तियों को किसी-न-किसी रूप में था, यद्यपि उनकी दिशाएं अलग-अलग थीं। गांधी की दरिद्रनारायण की अपनी कल्पना थी, पर बीसवीं शताब्दी के तीसरे-चौथे दशक में रचना पर मार्क्सवादी चिन्तन के दबाव स्पष्ट रुप में उभरते हैं और यथार्थवादी प्रवृत्तियां ज़ोर पकड़ती हैं। स्वतंत्रता आन्दोलन में भी किसानों-मजदूरों की साझेदारी बढ़ती है। प्राय: प्रेमचन्द के प्रगतिशील लेखक सम्मेलन के अध्यक्षीय भाषण का उल्लेख किया जाता है जहां वे रचना के सामाजिक आशय पर बल देते हैं। हिन्दी में केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, त्रिलोचन आदि प्रगतिवादी कवियों की पूरी पीढ़ी है जो अपने काव्यगुरु के रूप में निराला की ओर देखती है। बंगला में काज़ी नज़रुल इस्लाम जैसे विद्रोही कवि हैं जिनकी 'अग्निवीणा' अपनी क्रांतिकारी दृष्टि के लिए विख्यात है। अपने पत्र 'धूमकेतु' के माध्यम से उन्होंने 'ज्योति' का आवाहन किया। रचना की सामाजिक सोद्देश्यता के बिंदु पर आज भी भारतीय रचनाकार लगभग एकमत हैं कि समाज के पुर्ननिमाण में रचना की भूमिका होनी चाहिए। रचना की यह प्रतिबद्धता भारतीय अवधारणा को नये आयाम देती है और इसे पूर्ण विकास मिलना था। पर राजनीति के अपने दबाव होते हैं और भारत में भी शीतयुद्ध का एक दौर आया जब प्रगतिवादी तथा गैर प्रगतिवादी शिविरों में वैचारिक संघर्ष हुआ। आज स्थिति यह है कि वामपंथी दलों के विभाजन ने दृश्य को और धुंधला कर दिया है। इस सबके बीच आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे लेखक हैं जो भारतीय परम्परा के सर्वोत्तम से परिचित हैं और रचना की भारतीय अवधारणा को सम्बल प्रदान करते हैं। भारतीय भाषाओं में उमाशंकर जोशी, शंकर कुरुप, विष्णु डे आदि अनेक कवि हैं जो रचना की भारतीय अवधारणा की पुष्टि करते हैं।

आज विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं की बात की जाती है और प्रश्न किया जा सकता है कि रचना की भारतीय अवधारणा क्या है? भारतीय साहित्य किसे कहेंगे और उसका स्वरूप क्या है? थोड़ा पीछे की ओर मुड़कर देखें तो आज़ादी के पहले भी मध्यवर्ग पूंजीपति वर्ग की सहायता से समाज में पर्याप्त सक्रिय होता है और वह हर क्षेत्र में स्वयं को प्रभावी बनाना चाहता है। पर उसे अपनी सीमाएं भी मालूम हैं कि भारत जैसे ग्रामबहुल, पिछड़े समाज में वह बहुसंख्यक जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करता। नतीजा हमारे सामने है कि कई बार रचना का एक अभिजन स्वरूप विकसित होता है जिसमें सामान्यजन की उपस्थिति होती भी है तो बतौर मौखिक सहानुभूति के, या फिर उसका रूमानीकरण किया जाता है। मध्यवर्ग कई बार

विद्रोही मुद्राएं अपनाता है और रचना की एक क्रांतिधर्मिता भी दिखाई पड़ती है पर रचना तथा कर्म में सही संगति और संयोजन न स्थापित हो पाने के कारण कई तरह के छद्म भी आ जाते हैं। पूंजी और राजनीति के दबाव तेजी से बढ़े हैं, इससे इनकार नहीं किया जा सकता और रचना में सक्रिय मध्यवर्ग कई बार इन दबावों में डूबा-उतराया है। यों ऐसे भी विद्रोही लेखक हैं जिन्होंने सम्पूर्ण समर्पण से इनकार कर दिया है। जब मुक्तिबोध खतरे उठाने की बात कहते हैं तब वे रचना के सामाजिक दायित्व से परिचालित हैं। उनमें मध्यवर्गीय जीवन का अन्तःसंघर्ष है जिसे उन्होंने यों कहा है : 'ज़िन्दगी एक जंगल है / जिसकी पेचीदा पगडण्डी पर ठोकर से, पैर के अगूंठे के / उखड़े नख में से बहते खून लाल ताज़े / का तेज़ दर्द भुलवा, कोई / द्युति-चुम्बन की झांई आकर / आत्मा विद्युन्मय करती है, और इसी कविता 'मालव की झर-झर कंचन रेखा' में वे कहते हैं : सन्तापग्रस्त जीवन की दुनिर्वार औषधि लानी होगी / यों मर-मरकर ज़िन्दगी यहां पानी होगी।

आज़ादी के पहले, जैसी भी हो, हमारे पास एक सांस्कृतिक अवधारणा थी और नेतृत्व अपने रिक्थ से भी परिचित था। उसके पास एक उदार वैश्विक दृष्टि थी। पर राजनीति के सत्ता तक केन्द्रित हो जाने पर उसकी लोकोन्मुखता दुर्बल हुई। नेहरू 'भारत की खोज' जैसी पुस्तकें अपनी सांस्कृतिक अवधारणा के सहारे लिख सकते थे। सत्ता-केन्द्रित राजनीति में जातिवाद, साम्प्रदायिकता, भाषावाद, क्षेत्रीयता जैसी संकुचित मनोवृत्तियां जन्म लेती हैं और भारतीयता की अवधारणा खण्डित होती है। संक्रमणकाल से गुजरते समाज में ऐसी स्थितियां आती हैं, पर प्रश्न है कि भारत जैसे विशाल देश में समाधान क्या है? विश्व में कुछ बहु-भाषा-भाषी समाज हैं जहां प्रांतीय इकाइयों में प्रभावी रचनाएं होती हैं, पर रचनाशीलता का एक सम्पूर्ण रूप भी दिखाई देता है क्योंकि समग्र समाज की एक निश्चित अवधारणा वहां मौजूद है। एक बात और। प्रादेशिक इकाइयों में जो रचनाएं प्रस्तुत होती हैं उन्हें लगभग तत्काल अनुवाद के माध्यम से अन्य भाषा-भाषियों तक पहुंचा दिया जाता है। इस प्रकार विभिन्न प्रादेशिक भाषाएं निरन्तर संवाद की स्थिति में हैं और उनमें पारस्परिक आदान-प्रदान है, जबकि भारत में संवाद की यह प्रक्रिया शिथिल है, अथवा एकतरफा। भाषा का प्रश्न जब राजनीति में उलझ जाता है तब और भी कठिनाइयां आती हैं तथा रचना में संवादहीनता की एक त्रासद स्थिति होती है। यदि रचना की भारतीय अवधारणा सही ढंग से बननी है तो हमें अपने रिक्थ के सर्वोत्तम का उपयोग करना होगा, इतिहास के लंबे क्रम से हमारी सही जानकारी होनी चाहिए और सबसे बड़ी बात यह कि भाषा की विभिन्न इकाइयों में संवाद की प्रक्रिया को गति देनी होगी। समाज में वे सही समन्वयसूत्र होने चाहिए जो उसे एक निश्चित रूपाकार देते हैं।

नयी रचना का संकट

हर नयी रचना जो सार्थक होना चाहती है किसी-न-किसी संकट से गुजरती है। कहा जा सकता है कि इस प्रकार का अन्त:संघर्ष किसी रचना की परीक्षा भी करता है। रचना यदि सीधी-सादी राह से, बिना चुनौतियों का सामना किए गुज़र गई और उसने एक समझौतावादी रुख अपना लिया तो फिर उसे साधारण लेखन से ज्यादा अहमियत नहीं दी सकती। रचना जोखिम उठाने का एक दूसरा नाम भी है, क्योंकि हम इस माध्यम से आस-पास की ज़िन्दगी को बेखटके समेटते हैं, अपनी प्रतिक्रियाएं व्यक्त करते हैं और यदि समय हो तो रास्ता भी सुझाते हैं। इसी कारण सार्थक रचना अपने समय की प्रामाणिक तस्वीर भी होती है और साहसी रचनाकार कई बार सांस्कृतिक आन्दोलनों की अगुआई करते हैं।

रचना का संकट केवल अकादमिक मसला नहीं है कि उस पर शास्त्रीय बहस करके सन्तोष कर लिया जाए। वह आधुनिक युग के जटिल जीवन से गहरे रूप में जुड़ा हुआ है। बीसवीं सदी के पहले भी पुनर्जागरण, विज्ञान का उदय, डार्विन की स्थापना, समाजवादी विचार आदि ने संसार के चिन्तन को नये मोड़ दिए, पर दो-दो महायुद्धों ने मानव-चेतना को बुरी तरह झकझोरा, इसमें सन्देह नहीं। भारत जैसा देश भी जिसने युद्ध को दूर-दूर से ही देखा, उससे अप्रभावित रह जाता, यह संभव न हुआ। प्राय: कह दिया जाता है कि छायावाद का रूमानी अवसाद सत्याग्रह आन्दोलन की असफलता से भी जुड़ा हुआ है। मैं समझता हूं, यह स्थिति का सरलीकरण है और पूरी रचना-प्रक्रिया को सही परिप्रेक्ष्य में न समझ सकने की भूल है। क्या ऐसा नहीं हो सकता कि जिस तरह अस्तित्ववादी दर्शन को हम महायुद्ध के दौर की उपज मानते हैं और जिसके आरम्भिक संकेत उन्नीसवीं शती में किर्केगार्द की रचनाओं में मिलने लगे थे, उसी प्रकार के रूमानी अवसाद का भाव प्रथम महायुद्ध से जुड़कर और गहरा हो गया हो। कहने का मतलब यह है कि रचना मात्र वैयक्तिक प्रक्रिया नहीं है और उसमें एक

था, कथा, समीक्षा आदि पर कम। इसी कारण कुछ अरसे बाद उनके व्यक्तित्व को लेकर रचनाकारों की नयी जमात ने विद्रोह किया और अज्ञेय को 'अरी ओ करुणा प्रभामय' (1956-58) में नये कवि को एक से अधिक बार सम्बोधित करना पड़ा (नये कवि से, नया कवि, आत्मोपदेश आदि कविताएं)। कवि अज्ञेय ने यहां अपनी मनोव्यथा का बौद्धीकरण करने की कोशिश की है :

> तेरा कहना है ठीक : जिधर मैं चला
> नहीं वह पथ था :
> मेरा आग्रह भी नहीं रहा मैं चलूं उसी पर
> सदा जिसे पथ कहा गया, जो
> इतने-इतने पैरों द्वारा रौंदा जाता रहा कि उस पर
> कोई छाप नहीं पहचानी जा सकती थी।

नयी रचना को बदलाव का एहसास तो था, पर उसके सामने रास्ता स्पष्ट नहीं था। इसीलिए कविता, कहानी, उपन्यास और यहां तक कि समीक्षा में इस 'क्राइसिस' अथवा संकटावस्था का संकेत तो था, पर उससे उबरने का उपाय उसके पास नहीं था। कुछ लोग कह सकते हैं कि यह रचनाधर्म से विषयान्तर है और स्थिति का जिक्र करके रचना अपना दायित्व पूरा कर लेती है। पर मेरी समझ से समाज की नेतागीरीनुमा अगुआई चाहे रचना न करे, पर उसके सामने यह सांस्कृतिक दायित्व तो है ही कि समाज के बदलाव की दिशा क्या हो। यदि ऐसा नहीं होगा तो रचना इस हद तक भी तटस्थ और निष्क्रिय हो सकती है कि वह पलायनवादी हो जाए। यहां हम उस एहसास का उल्लेख भी करना चाहेंगे जो नयी रचना के पहले दौर में था और जिसमें वे लोग सम्मिलित थे, जो अब बुजुर्ग कहे जाते हैं। यह पीढ़ी खुद भी कम कशमकश में नहीं थी क्योंकि एक ओर उसकी पिछली दुनिया थी, दूसरी ओर ज़माने के नये तेवर थे। कथा के क्षेत्र में यशपाल जैसे प्रतिबद्ध लेखक पहले से ही जीवन यथार्थ से जुड़े हुए थे, इसलिए संक्रांति की इस स्थिति को पार करने में उन्हें अधिक कठिनाई का अनुभव नहीं हुआ। वे भारतीय राजनीति का सिंहावलोकन कर सकते थे और सामाजिक यथार्थ के भीतर यौनचित्रों को भी खपा सकते थे। नागार्जुन भी अपनी राह चलते रहे। पर ज्यादा कठिनाई तो उन्हें थी जो खुद को चौराहे पर खड़ा महसूस करते थे, एक प्रकार से उखड़े हुए लोग थे। वे या तो स्वयं को दुहराते रहे, या फिर उन्होंने स्थिति से किनाराकशी ही कर ली। नयी रचना के साथ दौड़ने का माद्दा उनमें नहीं था, यह बात साफ़ है।

बात हिन्दी की नयी रचना के संदर्भ में कही जा रही है इसलिए हिन्दीभाषी क्षेत्र की राजनीतिक-आर्थिक स्थिति का जायज़ा लेने पर कुछ दिलचस्प तथ्य हमारे सामने आते हैं और यदि हम शुद्ध साहित्य के पक्षधर बनकर रचना को

बड़ी दुनिया हिस्सा लेती है : सृजन से लेकर उसके उपयोग तक।

हर युग कुछ ऐसे प्रश्नों को लेकर रचनाकार के सामने उपस्थित होता है जिसके बारे में पिछली पीढ़ी के लोगों ने नहीं सोचा था। मसलन रामायण और महाभारत केवल दो महाकाव्य नहीं हैं जिन्हें किसी ने रचकर हमारे सामने रख दिया था, वरन् वे दो पृथक युगों की जीवन-दृष्टियों का प्रतिनिधित्व भी करते हैं। एक ओर राम और भरत का भाईचारा है, दूसरी ओर पाण्डव-कौरव का संघर्ष है। जाहिर है कि यदि रचना अपने पाठकों के लिए ग्राह्य होना चाहती है और अपने समय की एक जीवन्त तस्वीर बनने का हौसला भी रखती है तो उसे सामयिक परिवेश की सही पहचान करनी होगी। सामयिकता की गहरी पकड़ वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा रचनाएं नयी ज़मीन तोड़ती हुई, एक लम्बी परम्परा को आगे ले जाती हैं। यदि ऐसा न हो तो फिर रचना एक ही स्थान पर उछल-कूद करती रहे, और समाज भी उसमें सम्मिलित होना बन्द कर दे, क्योंकि उसके लिए उसमें कुछ भी नहीं है। किसी-न-किसी रूप में आखिर पाठक रचना में स्वयं को और अपने समय की धड़कन को पाना तो चाहता ही है। इस प्रकार रचना के सामने कई तरह की चुनौतियां हमेशा आकर खड़ी होती रही हैं जिसे रचना का संकट कहकर भी सम्बोधित किया गया है। रचना-प्रक्रिया को समझने की बार-बार कोशिश की गई और एक विस्तृत शास्त्र-परम्परा इसी क्रम में निर्मित होती रही है पर जीवन-संस्पर्श के बिना उसकी हर हरकत मिथ्या है।

नयी हिन्दी रचना के संदर्भ में विचार करते हुए हमें आज़ादी के कुछ बरस पहले पर दृष्टि डालनी होगी, जब भारतीय समाज अपनी स्वतंत्रता की लड़ाई में उलझा था। सवाल किया जा सकता है कि सन् '43 में प्रकाशित तारसप्तक में अपने समय-समाज से जूझने का कितना माद्दा है? दुःख यह कि तारसप्तक, विशेषतया प्रथम सप्तक के साथ अज्ञेय के व्यक्तित्व को इतने गहरे रूप में नत्थी कर दिया गया कि बहस कविताओं को लेकर कम हुई, सम्पादकीय वक्तव्य को लेकर अधिक। आचार्य वाजपेयी जैसे आधुनिक संवेदन के समीक्षकों ने भी अज्ञेय पर ही हमला किया। पर यदि तारसप्तक की कविताओं से गुजरा जाए और सीधे उनसे बातचीत की जाए, तो नयी रचना के संकट का एहसास हो सकता है। एक ओर वह रूमानी दुनिया थी जिसे छायावादी कवि पूर्णता पर पहुंचा चुके थे, दूसरी ओर राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्यधारा थी। इन्हीं के साथ नये कवि को यह भी मालूम था कि इन दोनों ही काव्य-प्रयोगों में जीवन का सम्पूर्ण संस्पर्श नहीं आ पा रहा है। इसीलिए नयी रचना ने जीवन-यथार्थ का आग्रह दुहरे-तिहरे स्तर पर किया, बाहरी दुनिया को उसकी अच्छाई-बुराई में पकड़ने की चेष्टा और मनुष्य के भीतर झांकने का प्रयत्न। आगे चलकर प्रगति-प्रयोग का जो शीतयुद्ध चला, उसका कारण अतिवादी दृष्टियां हो सकती हैं, पर इसमें शक

नहीं कि नयी रचना ने हिन्दी में यथार्थ की नयी पगडंडियां खोजने का महत्त्वपूर्ण काम किया। मेरी समझ में यह यात्रा आज भी अधूरी है और उसमें काफ़ी कुछ करने की गुंजाइश है।

यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए काव्य को नाकाफ़ी मानते हुए गद्य-लेखन, विशेषतया कहानी को प्रमुखता दी जाने लगी और कुछ लोगों ने तो पास्तरनाक की तरह घोषित किया कि हम गद्य-युग से गुज़र रहे हैं और यहां कविता के लिए गुंजाइश कम है। हम इसे परोक्ष रूप से काव्य के नये दौर की पराजय भी कह सकते हैं क्योंकि भारतीय क्षितिज पर जो नया जीवन उभर रहा था, उसे पूरी तरह व्यक्त करने में उसने स्वयं को असमर्थ पाया। इसका एक कारण यह भी हो सकता है नये यथार्थ को पूरी शक्ति से व्यंजित कर सकने के लिए जिस नये मुहावरे की आवश्यकता थी, वह अब भी अच्छी तरह तलाशा नहीं जा सका था। अफसोस तो यह कि प्रगतिवादी काव्य जिस जोश-खरोश के साथ गुलाम देश में जन्मा था, उसके तेवर, पता नहीं क्यों आज़ादी के बाद कुछ समय तक धीमे पड़ गए और वह उस समय शिथिल हुआ जब उसकी रचनात्मकता की सबसे अधिक आवश्यकता थी। तारसप्तक के समय के कई प्रगतिशील दूसरी दुनिया में तैरने लगे और एक प्रकार से विषयान्तर कर गए। कविता को सामाजिक यथार्थ के चित्रण का सार्थक माध्यम न मानने के कारण हिन्दी में नयी कहानी के आन्दोलन ने जोर पकड़ा और नयी कहानी, सचेतन कहानी, सहज कहानी, अकहानी जैसे लेबिल उस पर लगाए जाने लगे। अनुभव की वास्तविकता अथवा उसकी प्रामाणिकता पर जोर दिए जाने का एक आशय यह भी था कि नये यथार्थ अथवा युग के नये संवेदन को पकड़ा जाए। देवीशंकर अवस्थी की सम्पादित पुस्तक 'नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति' में परमानन्द श्रीवास्तव की टिप्पणी है: 'आज का कहानीकार यथार्थ को विभाजित करके नहीं देखता, अपितु सम्पूर्णता में देखता है। अनुभूति के प्रति उसकी अतिशय सजगता अनुभूति-क्षण को समय के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने की शक्ति प्रदान करती है। आज की कहानी में कथानक, चरित्र, वातावरण और प्रयोजन की सार्थक सांकेतिक अभिव्यक्ति केवल कलात्मक विशेषता या निपुणता के कारण नहीं है, बल्कि एक नयी संवेदनशीलता एवं नये यथार्थबोध से उत्पन्न है।'

नयी रचना के सामने यथार्थ को व्यक्त करने का जो संकट विद्यमान था, उससे निपटने के लिए नयी विधाओं में नयी सक्रियता लायी गई और नये-नये प्रयोग भी किए गए। यह बात दीगर है कि आन्दोलनों के चक्कर में पड़ जाने से उनकी गम्भीरता कम हो गई और कई बार लक्ष्य उनके हाथ से निकल गया। प्रेमचन्द युग के बड़े उपन्यासों में जीवन को समेटने की जो कला विकसित की जा रही थी, उसकी अपेक्षा छोटे-छोटे उपन्यासों में ज़िन्दगी के किसी खास टुकड़े

को सूक्ष्मता के साथ अंकित करने की कोशिश हुई और उसी क्रम में वे आंचलिक उपन्यास आ गए, जिनमें कहीं-कहीं यथार्थ की अपेक्षा रूमानी अदाएं अधिक थीं। हिन्दी आंचलिकता की विचित्र परिणति का एक कारण यह भी है कि वह स्वयं को यथार्थ से नहीं जोड़ पायी और इस क्षेत्र में नागार्जुन जैसे कथाकार आज भी इसीलिए निश्शेष नहीं हुए क्योंकि वे धरती के संस्पर्श से समृद्ध हैं।

आज़ादी के बाद भारतीय जनमानस एक अजीब असमंजस की स्थिति से गुजरता दिखाई देता है। लगता है कि जैसे हम पन्द्रह अगस्त 1947 के लिए पहले से तैयार नहीं थे और अचानक एक दुखान्त नाटक का यवनिका-पात हो गया, आगे की तैयारी हमारे पास नहीं थी। इसका एक सबूत यह है कि आजादी के बाद भारतीय राजनीति से बुद्धिजीवियों का पलायन तेज़ी से होने लगा। एक ओर स्वतंत्रता की पृष्ठभूमि में सशक्त वैचारिक क्रान्ति का अभाव था, जिससे समाज को एक सुदृढ़ आधार मिल सकता था, दूसरी ओर किसी समवेत स्वर के बिना रचना भीतर-भीतर टूटने लगी। स्वीकारना होगा कि रचना स्वयं-सम्पूर्ण वस्तु नहीं है, वह समाज की स्थिति और नियति से जुड़ी हुई है और उसका बनना-बिगड़ना समाजिक दबावों पर निर्भर करता है। इसीलिए आज़ादी के बाद रचना के समक्ष एक बड़ा संकट यह उपस्थित था कि वह स्वयं को नयी परिस्थितियों में कैसे ढाले और किस प्रकार नये बदलाव का वाहक बने। उसके सामने काफ़ी खुली ज़मीन थी, पर रास्ता स्पष्ट नहीं था, या यों कहिए कि उसे नयी राह स्वयं निर्मित करनी थी। जाहिर है कि ऐसे में रचना का दायित्व काफ़ी बढ़ जाता है, क्योंकि जो पथरेखा वह निर्मित करेगी, उस पर और भी लोग चलना चाहेंगे। यहां मैं एक बार फिर तारसप्तक में अज्ञेय की भूमिका 'विवृत्ति और पुरावृत्ति' की ओर संकेत करना चाहूंगा, विशेषतया उस वक्तव्य की ओर जिसमें उन्होंने संग्रहीत कवियों में एक समान मिलन-बिन्दु खोजने की चेष्टा करते हुए उन्हें 'राहों के अन्वेषी' कहकर सम्बोधित किया है। उन्होंने कहा है: 'काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण उन्हें समानता के सूत्र में बांधता है।' प्रश्न यह है कि क्या काव्य के अन्वेषण की कोई भी प्रक्रिया जीवन की खोज के बिना पूर्ण हो सकती है? विशेषतया उस समाज में जो कई शताब्दियों तक उपनिवेशवाद के अतिरिक्त अपनी ही रूढ़िवादिता, जातीयता, अन्धविश्वास आदि के मारक प्रहारों का शिकार रहा है। आज जब हम अधिक तटस्थ होकर नये काव्य के प्रथम चरण पर विचार कर सकते हैं तब हमें ऐसा लगता है कि अज्ञेयजी ने स्वयं तो आधुनिक रचना के संकट को अपने ढंग से समझा, एक रास्ता बनाया और उस पर चले (यह बात और है कि उस राह के बारे में तीव्र मतभेद की गुंजाइश रही है), पर उन्होंने पहले नये काव्य और फिर समस्त नयी रचनाशीलता को जाने-अनजाने एक गलत दिशा में मोड़ना चाहा। प्रभाव नये काव्य पर अधिक

था, कथा, समीक्षा आदि पर कम। इसी कारण कुछ अरसे बाद उनके व्यक्तित्व को लेकर रचनाकारों की नयी जमात ने विद्रोह किया और अज्ञेय को 'अरी ओ करुणा प्रभामय' (1956-58) में नये कवि को एक से अधिक बार सम्बोधित करना पड़ा (नये कवि से, नया कवि, आत्मोपदेश आदि कविताएं) । कवि अज्ञेय ने यहां अपनी मनोव्यथा का बौद्धीकरण करने की कोशिश की है :

> तेरा कहना है ठीक : जिधर मैं चला
> नहीं वह पथ था :
> मेरा आग्रह भी नहीं रहा मैं चलूं उसी पर
> सदा जिसे पथ कहा गया, जो
> इतने-इतने पैरों द्वारा रौंदा जाता रहा कि उस पर
> कोई छाप नहीं पहचानी जा सकती थी।

नयी रचना को बदलाव का एहसास तो था, पर उसके सामने रास्ता स्पष्ट नहीं था। इसीलिए कविता, कहानी, उपन्यास और यहां तक कि समीक्षा में इस 'क्राइसिस' अथवा संकटावस्था का संकेत तो था, पर उससे उबरने का उपाय उसके पास नहीं था। कुछ लोग कह सकते हैं कि यह रचनाधर्म से विषयान्तर है और स्थिति का जिक्र करके रचना अपना दायित्व पूरा कर लेती है। पर मेरी समझ से समाज की नेतागीरीनुमा अगुआई चाहे रचना न करे, पर उसके सामने यह सांस्कृतिक दायित्व तो है ही कि समाज के बदलाव की दिशा क्या हो। यदि ऐसा नहीं होगा तो रचना इस हद तक भी तटस्थ और निष्क्रिय हो सकती है कि वह पलायनवादी हो जाए। यहां हम उस एहसास का उल्लेख भी करना चाहेंगे जो नयी रचना के पहले दौर में था और जिसमें वे लोग सम्मिलित थे, जो अब बुजुर्ग कहे जाते हैं। यह पीढ़ी खुद भी कम कशमकश में नहीं थी क्योंकि एक ओर उसकी पिछली दुनिया थी, दूसरी ओर ज़माने के नये तेवर थे। कथा के क्षेत्र में यशपाल जैसे प्रतिबद्ध लेखक पहले से ही जीवन यथार्थ से जुड़े हुए थे, इसलिए संक्रांति की इस स्थिति को पार करने में उन्हें अधिक कठिनाई का अनुभव नहीं हुआ। वे भारतीय राजनीति का सिंहावलोकन कर सकते थे और सामाजिक यथार्थ के भीतर यौनचित्रों को भी खपा सकते थे। नागार्जुन भी अपनी राह चलते रहे। पर ज्यादा कठिनाई तो उन्हें थी जो खुद को चौराहे पर खड़ा महसूस करते थे, एक प्रकार से उखड़े हुए लोग थे। वे या तो स्वयं को दुहराते रहे, या फिर उन्होंने स्थिति से किनाराकशी ही कर ली। नयी रचना के साथ दौड़ने का माद्दा उनमें नहीं था, यह बात साफ़ है।

बात हिन्दी की नयी रचना के संदर्भ में कही जा रही है इसलिए हिन्दीभाषी क्षेत्र की राजनीतिक-आर्थिक स्थिति का जायज़ा लेने पर कुछ दिलचस्प तथ्य हमारे सामने आते हैं और यदि हम शुद्ध साहित्य के पक्षधर बनकर रचना को

सामाजिक दबावों से कटा हुआ मानना स्वीकार नहीं करते तो ये तथ्य हमारे लिए उपयोगी साबित हो सकते हैं, बशर्ते सम्पूर्ण भारतीय समाज पर भी हमारी दृष्टि रहे। बिना विवरण में गए, हिन्दी भाषी क्षेत्रों के पिछड़ेपन को स्वीकारने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए। आगे चलकर राजनीतिक अस्थिरता का जो दौर आया था इसमें भी हिन्दी क्षेत्रों ने तमगे हासिल किए। जब भारतीय साहित्य जैसी किसी रचना का दावा करने में कठिनाई महसूस की जाती है, क्योंकि भारतीयता की भी विचित्र व्याख्याएं हैं, तब प्रादेशिक दबावों और भाषा पर उसके कुप्रभाव से न निपट पाना, किसी स्तर पर हिन्दी रचना की पराजय है। कम-से-कम मैं यह मानता हूं कि राष्ट्रभाषा / राजभाषा के नारों के बीच हमारी रचनाशीलता का क्षरण ही हुआ है। जब हिन्दी रचना ने स्वयं को सार्वभौम (यूनिवर्सल) बनाने की कोशिश की, तब किसी हद तक अनजाने ही अन्तर्राष्ट्रीय (इन्टरनेशनल) बनने के चक्कर में भी पड़ी। नयी रचना पर विदेशी प्रभाव के जो दोष मढ़े जाते हैं, वे बचकाने हो सकते हैं, पर इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि रचना का देसी व्यक्तित्व पूरी तरह उभरकर आना आज भी शेष है। हम मानते हैं कि श्रेष्ठ कृतित्व को इस प्रकार भौगोलिक इकाइयों में खण्ड-खण्ड करके देखना बहुत संगत नहीं होता, पर हर समाज के अपने तकाज़े होते हैं और उन्हें नजरअन्दाज़ नहीं किया जा सकता।

नयी रचना का संकट तब और भी बढ़ा, जब खुद को व्यक्त करने के बावजूद, पाठक-समूह तक पहुंचाने के सीमित साधनों का उसे उपयोग करना पड़ा। इन पर भी प्रायः पूंजीवादी पत्रिकाओं अथवा सरकारी प्रचारतंत्र का कब्जा था। स्वतंत्र चिन्तन के लिए यों भी कोई उर्वर भूमि नयी रचना को नहीं मिली, पर जो कुछ वह सोच-समझ सकती थी, उसके प्रकाशन की पूरी सुविधाएं उपलब्ध नहीं थीं। छोटी पत्रिकाओं का आन्दोलन एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता था, पर बड़ी पत्रिकारिता से लड़ पाना उनके लिए कठिन था। इसलिए उन्हें राजाश्रय तक का का सहारा लेना पड़ा और इनमें से कुछ तो सार्थक होते हुए भी अकालकवलित हो गईं। वास्तविक स्थिति यह है कि नयी रचना के समक्ष एक समय ऐसा संकट था कि यदि कोई यथास्थिति के विरुद्ध आवाज़ उठाए तो पाठकों तक उसका पहुंच पाना कठिन और शहीद होने का पूरा-पूरा खतरा। शहादत के लिए भला कौन तैयार होता और जिस सार्थक विद्रोह को सृजनशीलता अथवा रचनाशीलता की आरंभिक शर्त मानना चाहिए, वह धीरे-धीरे सूखने लगा। मुक्तिबोध अपने जीवनकाल में प्रायः अनछपे से रह गए और स्वतंत्र चिन्तन के बहुत से दावेदार ऐसे दर्शन की मांग करने लगे जो शीर्षासन की मुद्रा में था, जिसमें अधिकारों की मांग तो बहुत थी, पर जिम्मेदारियों से बचने की चाल थी। संयोगवश रचना के नागरीकरण ने जहां मध्यवर्ग और

तथाकथित उच्च वर्ग की जांच-पड़ताल की, विशेषतया नयी कहानी ने, वहीं एक व्यापक ज़िन्दगी की विविधता से वह दूर भी होती गई। मुक्तिबोध ने 'विपात्र' नामक अपने लघु उपन्यास (?) में युवा पीढ़ी के संकट का जिक्र करते हुए लिखा है : "उस दरबार का एक सदस्य दूसरे सदस्य से सिर्फ ऊपरी तौर से मिलता था, क्योंकि हम सब लोग बेढंगे, बेजोड़ और बेमेल आदमी थे। ज़िन्दगी कैसे जी जाए, सब लोगों के अलग-अलग ख्याल थे। सब एक-दूसरे से अलग थे और हर एक में ऐसा गहरा अकेलापन था जिसे काटने के लिए मसालेदार गपबाजी के अलावा कोई दूसरा रास्ता नहीं दिखाई दे रहा था। महफिलबाजी के बावजूद उनके अकेलेपन की गहराइयां बड़ी ही अंधेरी और निजी थीं। इस माहौल में लोग यदि एक-दूसरे की सहायता भी करते तो भी काटने के लिए दौड़ते। एक-दूसरे की टांग खींचना मामूली बात थी। एक अजीब कैद थी जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको विफल अनुभव कर रहा था और फिर किसी में साहस न था कि इस उलझी हुई गुत्थी को तोड़े।"

स्थिति का जायजा लेने के बाद मुक्तिबोध ने ईमानदारी के साथ यह स्वीकारा है कि रचना वह साहस नहीं जुटा पा रही थी जो यथास्थिति को तोड़ने के लिए आवश्यक होता है। एक अजीब तरह की नपुंसक फुफकार हमें कई बार दिखाई देती है, पर अक्सर होता यह है कि व्यंग्य के नाम पर रंगी-चुनी पत्रिकाएं लतीफे छापती हैं। ऐसे में हरिशंकर परसाई जैसे सार्थक नाम भी हैं जो सामयिकता से लगाव रखते हैं, कूड़े-करकट पर हमला बोलते हैं और बदलाव की मांग करते हैं। एक अजीब किस्म का लिजलिजा विद्रोह नयी रचना में घुसपैठ करता रहा है, जिसे कभी-कभी खूबसूरत नाम, मानव-विवेक, मानव-मुक्ति अथवा ऐसे ही प्रपंची मुहावरों में बांधा गया है, पर सचाई तो यह है कि हम में से कितने ही धुरीहीनता की बात करते-करते खुद उसके शिकार हो गए। रचना जब संकट के आमने-सामने खड़ी हो तब दामन बचाकर निकल जाने का मतलब एक प्रकार का आत्मछल है, जिसे कोई भी नकाब पहनाने से बात नहीं बनती। रचना के ढेरों आन्दोलन या फिर रोज-रोज उठने वाले नारे प्रकारान्तर से हमारी दुर्बलता का ही दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं, अन्यथा रचना में जब भीतरी शक्ति होती है, तब उसे व्यर्थ के मुखौटों की जरूरत नहीं पड़ती। हम मानते हैं कि एक प्रकार से नयी रचना का संकट भारतीय समाज का भी संकट है, पर यहीं रचना के दायित्व का अहम सवाल उठता है, जिसे निभाने में ही उसकी सार्थकता है। इस सिलसिले में हम कई ऐसे मसलों पर नज़र दौड़ा सकते हैं जो नयी रचना के दौर में उठते-गिरते रहे हैं। मसलन आधुनिकता का सवाल? जरूरी नहीं है कि हम स्टीफेन स्पेण्डर के 'द स्ट्रगल आफ़ द मॉर्डन' की तर्ज पर ही बात करें क्योंकि इतिहास के परिप्रेक्ष्य में ही इस पर जानदार बहस हो सकती है। आधुनिकता को परिभाषित

करने और फिर रचना में उसे प्रमाणित करने के लिए सर्वप्रथम सामयिकता की अच्छी समझ तो चाहिए ही और ज़ाहिर है कि हिप्पीवाद जैसी फैशनेबुल आधुनिक आध्यात्मिकता की खपत भारत जैसे गरीब देश में उचित नहीं कही जा सकती। यहां दृष्टि को अधिक सकारात्मक रखना होगा, केवल नकारात्मकता से काम नहीं चल सकता।

चिन्तन और क्रियाशीलता में जहां खाई गहरी तथा दूरी ज्यादा होती है, रचना का असमंजस अथवा संकल्प-विकल्प भी उसी मात्रा में घटा-बढ़ा होता है। चिन्तन के क्षेत्र में कई बार मौलिकता के दावे करने का अवसर नयी रचना को मिला है, पर जब-जब उसे पैरों के बल खड़ा करने की बात आई तो हम चूक गए क्योंकि उतनी सकर्मकता हम में नहीं थी। एक छद्मवेशी दलबदल कई बार नयी रचना के घर में सेंध कर गया है और कभी-कभी तो मेल-मिलाप का कोई आधार ही नहीं नजर आता। नौकरशाही से बंधे अफसर, पूंजीपतियों के सम्पादक और इनके साथ तथाकथित कामरेडी लेखकों के गठबन्धन को आप क्या कहेंगे? यह गड्डमगड्ड क्या है? क्या आप इसे सहअस्तित्व कहकर पाठक को झुठलाना पसंद करेंगे? या फिर साफ़ कहना चाहेंगे कि हम कहीं अपने स्वार्थों की दुनिया से चिपके हैं, और हमारी कोई समान मिलन-भूमि नहीं है, जिसका कोई सैद्धान्तिक आधार हो। सबके अपने-अपने लेखक, अपने समीक्षक और यहां तक कि अपने अखबार हैं। कल तक जो लोग मैकार्थीवाद और डलेसयुग के पक्षधर थे, वे ही आज अपने मकान की दीवारों पर लाल निशान बनाने लगे हैं। कल तक जिन्होंने प्रधानमंत्री पर कार्टूनों से हमला किया था, वे ही अब सरकारी पदक लूट रहे हैं। तो कहीं ऐसा तो नहीं है कि रचनाकर्म एक व्यावसायिक स्तर पर किया जा रहा है और उसका क्रय-विक्रय जारी है। इस सिलसिले में हमारा ध्यान मानवमूल्यों के सम्बन्ध में चलने वाली बहस की ओर जाता है जिसका सही-गलत इस्तेमाल बराबर किया जाता रहा है। पर जब कई रचनाओं को टटोला तो पाया कि न मानव था न मूल्य, दोनों ही गायब थे। मानवमूल्यों का प्रश्न कोई किताबी चीज़ नहीं है और न उसे दिमागी ऐय्याशी से ही हल किया जा सकता है, वह तो जीवन की जटिलताओं के भीतर से ही निर्मित किया जा सकता है। मूल्यों को पाने और फिर रचना में उसे पूरी शक्ति से प्रमाणित करने के लिए चिन्तन और कर्म को जोड़ना होता है। इसके लिए निर्भयता और साहस के साथ सजग, सार्थक मानवीय संवेदन की ज़रूरत होती है।

नयी रचना आज जिस स्थिति में है, उसमें बराबर यह एहसास है कि उसकी यात्रा आसान नहीं है, पर सामाजिक जड़ता से लड़ने-झगड़ने के लिए जितने संकल्प की जरूरत होती है, वह अब भी उसमें आना शेष है। संभवत: इसीलिए अनेक बार रचना के क्षेत्र में 'समवेत स्वर' की अनिवार्यता स्वीकारी गई है, ताकि

अकेले कण्ठ की पुकार अरण्यरोदन बनकर न रह जाय। सामाजिक-राजनीतिक माहौल में परिवर्तन आने पर रचना के तेवरों का बदलना भी स्वाभाविक है, पर तब अगुआई का सेहरा रचना के सिर पर नहीं बांधा जा सकेगा। यहीं यह सवाल पूछा जा सकता है और प्राय: पूछा भी गया है कि आखिर आधुनिक रचना का प्रयोजन क्या है ? उसका गन्तव्य क्या है ? शायद इसका उत्तर पा लेना बहुत सरल नहीं, पर कहा जा सकता है कि आज की रचना, जिसे हम नया का विशेषण लगाकर काम चलाते हैं, वह अपने समय-समाज से जुड़ी हुई है और उसे उजागर करने में अपनी सार्थकता महसूस करती है। हमारा दायरा बराबर बढ़ता रहे, ताकि हमारी दुनिया सिमटने-सिकुड़ने न पाए, यह कोशिश तो नयी रचना को करनी ही होगी, नहीं तो उस पर वह कलावाद हावी हो जाएगा, जिसके लिए पहले सामन्तवादी व्यवस्था और अब पूंजीवादी समाज काफी बदनाम रहे हैं। इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि आज की रचना के सामने संकटों की तादाद तो अधिक है ही, उनका स्वरूप भी जटिल है, पर यह भी सच है कि जो रचना जितने बड़े ख़तरे उठाती है, इतिहास में उसके हस्ताक्षर भी उतने ही जानदार होते हैं। यदि आज की रचना पूरे साहस के साथ स्थिति से जूझने का सामर्थ्य पैदा कर सकती है तो उसे सब कुछ पाना ही पाना है, खोना कुछ भी नहीं, क्योंकि संभावनाओं की इतनी बड़ी दुनिया इसके पहले शायद रचना के सामने कम ही थी।

साहित्य और सामाजिक दायित्व

साहित्य को खतरा उन नारों से भी होता है जो समय-समय पर लगाए जाते हैं जैसे धर्म, दर्शन तथा राजनीति में जीवन और समाज की दुहाई देते हुए धर्म-प्रचारक, दार्शनिक अथवा राजनीतिक नेता साहित्य को भी एक बनी-बनाई रेखा के भीतर रखना चाहते हैं। इतिहास में ऐसे अवसरों का अभाव नहीं है जब पर्याप्त समय तक धर्म-दर्शन ने साहित्य की गतिविधि का नियंत्रण किया। यहां बौद्धधर्म से प्रभावित 'बुद्धचरित' आदि की रचना हुई। जातक कथाओं की एक परम्परा ही चल पड़ी। धर्म की शक्ति इतनी प्रबल थी कि महान् कवि भी इससे पूर्ण मुक्ति न पा सके। भारत में शैव-वैष्णव कवियों की अलग-अलग परम्पराएं हैं। हिन्दी में सगुण निर्गुण-कवि हैं जिन्होंने अपने मत की प्रतिष्ठा का प्रयत्न किया। साहित्य पर धर्म का अंकुश विभिन्न रूपों में दिखाई देता है और इस भावना के कई पर्याय हैं। मनुष्य में ज्यों-ज्यों तर्क-बुद्धि का प्राधान्य हुआ, धर्म का स्थान स्वाधीन चिन्तन को प्राप्त हुआ। धार्मिक अनुशासन में साहित्य देवी-देवताओं में उलझा रहा और चरित्रों का विभाजन सुर-असुर के रूप में किया गया। देव-दानव संघर्ष की कथा प्राय: सभी महाकाव्यों में मिलती है। 'आदर्श' की स्थापना के पीछे साहित्य की धार्मिक मनोवृत्ति काम करती दिखाई देती है। कालान्तर में धर्म साहित्य के क्षेत्र को पूरी तरह छोड़कर नहीं चला गया, किन्तु इतना अवश्य हुआ कि कवियों में दार्शनिकता और बौद्धिक जीवन दृष्टि की प्रवृत्ति अधिक आ गई।

दर्शन को धर्म के प्रति एक विद्रोह नहीं कहा जा सकता। धर्म में दार्शनीकरण की प्रवृत्ति का समावेश उन अवसरों पर भी किया गया है जब उदारपन्थी विचारक खुलेआम धार्मिक कट्टरता का विरोध नहीं कर सकते थे। प्रोफेसर ए० जे० आर्बरी ने अपनी पुस्तक 'सूफ़ीवाद' में धर्म और साहित्य की विवेचना करते हुए लिखा है कि प्रतिबिम्बवाद, प्रतीक योजना तथा दार्शनीकरण के पीछे उनमें एक सुरक्षित कक्ष में पहुंचने की मनोवृत्ति है। ज्यों-ज्यों समाज की विचारधारा धर्म के नियंत्रण

से मुक्त होती गई, साहित्य का दर्शन भी अधिक मुखर होता गया। यह प्रवृत्ति उस समय से दिखाई देती है जब समाज ने धार्मिक मान्यताओं में सन्देह किया था। साहित्य में इसे मानववाद कहा जाता है। इसमें धर्म के स्थान पर कतिपय मानवीय मूल्यों को प्रमुखता मिलती है। यह प्रवृत्ति पर्याप्त सीमा तक धर्म-निरपेक्ष कही जाएगी। इसमें तर्क-विचार का आग्रह अधिक होता है। स्वतंत्र विचारों के पल्लवन के साथ साहित्य में यह प्रवृत्ति प्रबल होती है। बकौल कॉडवेल प्राय: सभी साहित्यकार किसी-न-किसी रूप में मानुषीकरण करते हैं। टालस्टाय ने अपने अधूरे आत्मकथात्मक उपन्यास में उसके नायक निकोली के मुख से कहलाया है: 'आरम्भ से ही मेरी आदत थी कि मैं प्रत्येक वस्तु की व्याख्या करने लगता था। दार्शनीकरण की अपनी प्रवृत्ति के कारण मैं घंटों सोचता रहता था।'

साहित्य में यह मानुषीकरण कई बार समाज में प्रचलित विभिन्न दार्शनिक अथवा राजनीतिक सिद्धांतों से भी परिचालित होता है। विचारधारा, दर्शन अथवा राजनीतिक मत इतने प्रभावशाली हो जाते हैं कि कभी-कभी साहित्य उनका अनुगामी बनकर रह जाता है। साहित्य की यह भयावह स्थिति होती है। इतिहास से ज्ञात होता है कि यद्यपि समय-समय पर समाज ने धार्मिक कट्टरता के प्रति अपना विरोध प्रकट किया किन्तु एक लम्बी अवधि तक धर्म हमारे सामाजिक जीवन का प्रमुख नियामक बना रहा। पन्द्रहवीं शताब्दी में यूरोप में जो पुनर्जागरण (रिनेसां) युग आया, इसमें प्रथम बार ईश्वर और धर्म में सन्देह व्यक्तकर, साहित्य नयी भूमि पर आया। विज्ञान के दर्शन के साथ एक नया जीवन-समाज में विकसित हुआ। इतना अवश्य है कि नया ज्ञान-विज्ञान कहीं-कहीं आज भी धर्म का पूर्ण स्थान नहीं ग्रहण कर सका—क्योंकि व्यापक सामाजिक स्तर पर विज्ञान द्वारा कार्य सम्भव नहीं हो सका—विशेषतया पिछड़े समाजों में। इसी कारण साहित्य और समाज में धर्म के स्वरों को पूर्णतया विलीन नहीं किया जा सका। रिनेसां में बुद्धि-ज्ञान का जो स्रोत प्रवाहित हुआ, उसने धर्म के स्थान पर राजनीति को समाज का नियामक बनाया। स्वतंत्र चिन्तन की प्रवृत्ति इतनी प्रबल हुई कि कभी-कभी दो पूर्णतया परस्पर विरोधी विचारधाराएं भी देखने को मिल जाती हैं।

सामाजिक जीवन में राजनीतिक प्रवेश कई दृष्टियों से साहित्य के लिए एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इस युग में सत्ता मठाधीशों के हाथ से निकलकर राजनीति-संचालकों के हाथ में आ गई। इंग्लैंड का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि कुछ समय तक चर्च और राजा में संघर्ष चला। कालान्तर में जनता और उसके प्रतिनिधियों ने राजा के दैवी अधिकार को चुनौती दी। राजनीतिक प्रभुता के युग में साहित्य में स्वतंत्र चिन्तन की प्रवृत्ति विकसित होती दिखाई देती है, यद्यपि उस पर अब भी एक प्रकार का राजनीतिक प्रभाव बना रहा। नाज़ीवाद के आगमन

से 'सेन्सर' क्रमशः ज़ोर पकड़ता गया। समाज में ज्यों-ज्यों राजनीति के तत्त्व प्रबल होते गए, साहित्यकार के लिए असम्पृक्त, निर्विकार अथवा तटस्थ रहकर किसी आदर्श लोक का निर्माण करना कठिन हो गया। उसे प्रथम बार अपने सिंहासन से उतरकर, नये परिवर्तनों को पास से देखना पड़ा। अंग्रेजी कवि मिल्टन ने तो क्रॉमवेल की सरकार में सक्रिय भाग तक लिया। इसके पूर्व शेक्सपियर की रचनाओं में भी अपने युग की अवस्था प्रकारान्तर से अंकित हुई है। मध्ययुग से एलिजा-बेथियन युग का अन्तर स्पष्ट करते हुए एडवर्ड डॉउडन ने अपनी पुस्तक 'शेक्सपियर' में लिखा है: 'पुनर्जागरण और धर्म-सुधार के युग में जीवन एक वास्तविक वस्तु हो गया था। मध्ययुग का आतंक और विवाद लौकिक सुख का त्याग, आध्यात्मिक इच्छा की अतृप्ति और उसका शोक, धर्म में सन्देह पर प्रतिबन्ध तथा इन्द्रिय-निग्रह—ये सब जो जीवन के प्रमुख रूप थे, समाप्त हो गए।' शेक्सपियर और मिल्टन के अनन्तर जो रचनाकार आए, उन्हें किसी-न-किसी रूप में समाज और उसकी राजनीति का पर्यवेक्षण करना पड़ा। अठारहवीं शताब्दी के अंत में डॉ० जानसन के सहयोगियों ने वैचारिक आन्दोलनों में भाग लिया। इसी प्रकार फ्रांसीसी क्रांति के अनंतर व्यक्ति की जो महत्ता प्रतिष्ठित हुई, उसने भी साहित्य पर अपना व्यापक प्रभाव डाला। वर्ड्सवर्थ तक उससे प्रभावित हुआ था। रोमान्टिक कवि कल्पनाशील होते हुए भी राजनीति में रुचि लेते हैं। बायरन ने तो उसमें सक्रिय भाग लिया था। राजनीतिक क्षेत्र में फासिज्म के आगमन से साहित्यकारों पर राजनीति का अंकुश किंचित् कठोर हो गया। सांस्कृतिक आन्दोलनों की ओट में इटली-जर्मनी के फ़ासिस्ट नेताओं ने साहित्य को एक बंधी-बंधाई लकीर से जाने पर बाध्य किया। साम्यवाद में लेखक से प्रतिबद्धता की मांग की गई। समाज और साहित्य का आकलन करते हुए मार्क्स ने लिखा है: 'रूसी आशावाद, जिसमें देश के अनेक तथाकथित क्रान्तिकारी भी विश्वास करते हैं, इस कृति में (मज़दूर वर्ग की अवस्था) बड़ी निर्ममता से उद्घाटित हुआ है। यद्यपि कतिपय स्थानों पर सैद्धान्तिक दृष्टि से (संभवतः मार्क्स का तात्पर्य आर्थिक आधार से है) यह पूर्णतया सन्तोषप्रद नहीं है, फिर भी इसका महत्त्व घटा नहीं है। यह एक गम्भीर द्रष्टा, निर्भय कार्यकर्ता, तटस्थ आलोचक, एक महान् कलाकार और इन सबके ऊपर एक ऐसे व्यक्ति की रचना है जो हर प्रकार के बन्धन का विरोधी है।'

ऊपर के इस ऐतिहासिक क्रम को संक्षेप में इसलिए उठाना पड़ा क्योंकि संभवतः कुछ विद्वान यह मत रखते हैं कि 'किसी सतयुग' में साहित्य समाज से पूर्णतया असम्पृक्त था। साहित्यकार (विशेषतया कवि) का समाज के प्रति कोई उत्तरदायित्व न था। वह एक चिन्तक था। इसके लिए 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः' आदि विशेषण पेश किए जाते हैं। संभवतः यह धारणा अतिरिक्त

आदर्शवादिता अथवा जीवन से पलायन-वृत्ति के कारण बन गई। समाज धर्म, अध्यात्म, दर्शन अथवा राजनीति से अनुशासित रहा है और साहित्य, जो समाज का मानसिक-भावात्मक प्रकाशन है, इन पगडंडियों से होकर गुजरा है। प्रश्न केवल इतना है कि साहित्य किस सीमा तक और किस रूप में समाज का चित्र प्रस्तुत करता है, क्योंकि साहित्यकार कोई कमेंटेटर मात्र नहीं है जो 'आंखों देखा हाल' सुनाता है। ज्ञान का साहित्य अथवा शास्त्र समाज को तथावत् चित्रित कर सकते हैं। इतिहासकार, राजनीतिज्ञ आदि किसी सीमा तक इसी अर्थ में सामाजिक लेखक हैं। यद्यपि वे भी भविष्यद्रष्टा हो सकते हैं किन्तु रचनात्मक साहित्य समाज को ज्यों का त्यों नहीं अंकित करता। यहां हम मुख्यतया इसे ही लेकर समाज से उसके सम्बन्ध की चर्चा करना चाहेंगे।

रचनात्मक साहित्य और समाज का सम्बन्ध अभिव्यक्ति का प्रश्न भी है। और सृजन-प्रक्रिया से जुड़ा हुआ है। समाज के विषय में सभी लेखकों की प्रतिक्रिया होती है किंतु इसका रूप सर्वत्र एक नहीं होता। अपने समय के समाज के प्रति प्लेटो की भी एक प्रतिक्रिया थी। किंतु 'सत्य' और 'नैतिकता' का मोह उसमें इतना अधिक था कि वह केवल बौद्धिक-तार्किक स्तर पर ही सोच सकता था। इसी कारण उसने 'आदर्श राज्य' में कवियों का बहिष्कार किया और होमर तक का विरोध हुआ। रचनात्मक साहित्यकार, विशेषतया कवि संवेदनशील प्राणी है और पूर्ण तटस्थ, निरपेक्ष होना उसके लिए किंचित् कठिन है। जहां तक समाज को देखने-सुनने का प्रश्न है प्रायः सभी लेखक अपनी शक्ति के अनुसार उसका अध्ययन करते हैं किंतु आगे चलकर उस सामाजिक चित्र को प्रस्तुत करने की विधि में अन्तर हो जाता है। साहित्य की सृजन-प्रक्रिया कुछ ऐसी है कि रचनाकार साहित्य-सृष्टि के पूर्व अपने मानस में उन चित्रों को ले आता है जिन्हें उसने कुछ समय पूर्व पाया था। वह अपनी बुद्धि से यह निर्णय करता है कि इनमें से कौन से चित्र ऐसे हैं जिन्हें प्रस्तुत करने पर 'सार्थक अभिव्यक्ति' हो सकेगी। इस प्रकार किसी सीमा तक रचनाकार के मानस जगत् में एक द्वन्द्व की-सी स्थिति आती है। यह समस्या 'संचयन' अथवा वस्तु के चुनाव से सम्बन्ध रखती है। संभवतः इसी कारण अरस्तू ने अपने काव्यशास्त्र में 'प्लाट' को इतना महत्त्व दिया। यद्यपि समस्या यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती। वास्तव में वह तो आरम्भ है। सामग्री के चुनाव में रचनाकार फोटोग्राफर से भिन्न होता है। वह उसी तथ्य और सत्य को अभिव्यक्ति देने में प्रयत्नशील होता है जिसे उसने अपनी चेतना में आत्मसात् किया है। यही कारण है कि साहित्य की अभिव्यक्ति रागात्मक होती है—रस-सम्पन्न। मनोविज्ञान काव्य-सृजन के जिन क्रमिक चार चरणों—अनुभूति, पल्लवन, अभिव्यक्ति और प्रभाव की चर्चा करता है, उसमें पल्लवन का विशेष महत्त्व है। अभिव्यक्ति के पूर्व, इसी दौरान में वह निर्णय करता

है कि उसे क्या रखना है, क्या छोड़ देना है।

साहित्यकार ऐसे सत्य का उद्घाटन नहीं करता, जिस पर उसने विचार मात्र किया है, वह 'अनुभूत सत्य' की अभिव्यक्ति करता है। केवल विचार-सत्य के सहारे महान् साहित्य की सृष्टि संभव नहीं। अपनी कृति को अधिकाधिक प्राणवान और सशक्त बनाने के लिए रचनाकार अनुभूत सत्य को उसकी पूर्ण तीव्रता में अंकित करता है। उद्देश्य निश्चित कर लेने के अनन्तर वह ऐसे तथ्य एकत्र करता है ताकि चित्र अधिक-से-अधिक विश्वस्त और प्रामाणिक हो सके। इस प्रकार साहित्य में समाज की जो तस्वीर आती है, वह रागात्मक, सोद्देश्य और कटी-छँटी होती है। उदाहरणार्थ हम युद्ध के दौरान रचे गये साहित्य को ले सकते हैं, जिसमें उस समय की विभीषिका, निराशा और अमानवीयता को संकेत रूप में ही अंकित किया जा सकता है। किन्तु यह कितना सार्थक है, इसका प्रमाण यह कि ध्वनि काव्य सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। रचना-विधान, साहित्य-सृजन के चरण किसी गणित के प्रश्न को सुलझाने की रीति से किंचित भिन्न होते हैं। साहित्य-सृष्टि के यांत्रिक नियम नहीं बनाये जा सकते। रागात्मक स्वर की अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न मार्ग बनाये गये हैं, जो स्थूल दृष्टि से देखने पर एक-दूसरे के विरोधी भी प्रतीत हो सकते हैं, किन्तु उनकी सृजन-प्रक्रिया ऐसी कि जैसे अनेक अन्वेषी विभिन्न दिशाओं से आते हुए एक ही केन्द्रबिन्दु पर मिलते हों। साहित्य का उद्देश्य आनन्द-सृष्टि है जिसकी अनेक विधियां हो सकती हैं। आनन्द की व्याख्या को लेकर भी मतभेद हो सकते हैं।

समाज की साहित्यिक तथा उसकी अन्य अभिव्यक्तियों में सृजन-प्रक्रिया के कारण जो अन्तर दिखाई देता है, उसे समझने के लिए पुरानी शब्दावली में कहा जा सकता है कि साहित्य 'रस' का निर्माण करता है जबकि अन्य शास्त्र केवल 'आसव' से भी काम चला सकते हैं। साहित्य में विभिन्न ज्ञानराशियों को उनके धार्मिक, राजनीतिक, दार्शनिक, नैतिक रूप में नहीं प्रस्तुत किया जाता, किंतु 'साहित्यिक रूप' में ही उनका अंकन होता है। इस वक्तव्य की किंचित् व्याख्या अपेक्षित होगी। साहित्य जीवन और संसार में बिखरी हुई विभिन्न चिंतन-धाराओं की अवहेलना नहीं कर सकता, किन्तु वह उनका व्याख्याता मात्र बनकर नहीं रह जाता। दर्शन को छन्द की नपी-तुली पंक्तियों में लिपिबद्ध कर देने भर से वह रचना काव्य की संज्ञा नहीं प्राप्त कर सकती। इसके लिए तो यह अपेक्षित है कि उस दर्शन के अनुरूप ऐसे जीवन-दृश्य प्रस्तुत किये जाएं, जिनके माध्यम से वह विशिष्ट दर्शन बोलता हो। गीता का कर्मवाद श्लोकों में बंध जाने मात्र से काव्य की संज्ञा प्राप्त नहीं कर सकता। किंतु इसी से अनुप्राणित 'दिनकर' के 'कुरुक्षेत्र' के भीष्म का जीवनदर्शन जीवन-चित्रों के साथ आने के कारण काव्य की सीमा छू लेता है। साहित्य में जिस समाज और जीवन की अभिव्यंजना होती है, उसके

१२६५३

अनुरूप चरित्र-सृष्टि की जाती है। पाश्चात्य नाटकों में चरित्र-चित्रण पर जो इतना बल दिया गया है, उसका एक कारण यह भी है कि इस माध्यम से एक विशिष्ट जीवन-दर्शन अपने सजीव रूप में बोलता है। इसी कारण पात्र कभी-कभी एक प्रतिनिधि का कार्य करते हैं और उन्हें कालजयता मिलती है। मार्लो अपने नाटक में फ़ाउस्ट के मुख से अपनी प्रेयसी के लिए 'हेलेन' शब्द का प्रयोग करवाता है। वही हेलेन, जिसके कारण अनेक मीनारें जल गयी थीं।

साहित्य में समाज का जो चित्र आता है, उसे प्लेटो ने 'अनुकृति मात्र' कहकर टाल दिया। किन्तु यह ध्यान रखना होगा कि साहित्यकार सृष्टि की भी पुनर्सृष्टि करता है। कारण यह कि सृजन के समय वह उसमें अपना व्यक्तित्व भी सन्निहित कर देता है। इस 'व्यक्तित्व' को यदि साहित्य-सृष्टि से निकाल लिया जाय तो वास्तव में उसमें अधिक शेष नहीं रह जाता। इसी कारण साहित्य में रचनाकार का व्यक्तित्व महत्त्वपूर्ण स्थान पाता है। इस आधार पर हम महान् और साधारण साहित्य में अन्तर जान सकते हैं। महान् साहित्यकार अपने युग और समाज का आकलन करते हैं और महाकाव्य का निर्माता तो एक युग की बिखरी हुई सांस्कृतिक चेतना को ही लिपिबद्ध कर लेता है। यह कार्य उसके रचनाशील व्यक्तित्व से ही संभव है। युग-आकलन की साहित्य की प्रक्रिया इतिहासकार आदि से भिन्न होती है। वह घटना-क्रम से न उलझकर, मूल चेतना को ग्रहण करता है और उसे मांसल अभिव्यक्ति देता है। इसी कारण सोमरसेट मॉम ने एक स्थान पर लिखा है, "महान् साहित्यकार को इतना अवसर नहीं रहता कि वह वस्तुओं का विवरण प्रस्तुत करे।" वह वे ही दृष्टान्त जुटाता है जो युग की मूल चेतना का आभास देते हों। विलियम जार्जो का एक उपन्यास है 'द ट्वेंटीफ़िफ्थ आवर'। उसका नायक युद्धबन्दी के रूप में सैकड़ों मील तार के नीचे से गुज़रता है। अन्त में युद्ध की समाप्ति पर जब वह अपनी पत्नी और बच्चों से मिलता है तो देखता है कि सभी के मुख पर एक गहरी विषाद-छाया है। उस परिवार का चित्र लेते हुए एक अमरीकन फोटोग्राफ़र कहता है—'हँसो, जरा हँसते रहो', यह हँसने के प्रयास पर तीखा व्यंग्य बनकर आया है। साधारण लेखक विवरणों में उलझकर रह जाते हैं और समझते हैं कि वे युग का अंकन कर रहे हैं। पर यह मध्यकालीन पच्चीकारी की तरह है। साधारण लेखक बहाव में आ जाते हैं, वर्तमान उन्हें अभिभूत कर लेता है। यह एक प्रकार से उनके व्यक्तित्व की पराजय भी है। किन्तु महान् लेखक समाज के अतीत, वर्तमान और भविष्य के बीच एक शृंखला का कार्य करते हैं।

प्रश्न है कि समाज साहित्य की गतिविधि का किस सीमा तक संचालन करता है। प्रायः लगाये जाने वाले नारों में एक प्रमुख नारा यह कि साहित्य समाज का है, साहित्यकार समाज का है। एलबर्ट सेमाल्ज ने अपनी पुस्तक 'द सिटिज़न

राइटर' में लिखा है—"वह (लेखक) पूर्णतया समाज के प्रति उत्तरदायी है, क्योंकि समाज, मनुष्य जाति उसे उत्तरदायी ठहराते हैं।" मैंने जान-बूझकर एक ऐसे देश के समाजवादी लेखक को लिया है, जहां पर साम्यवाद अभी नहीं आया है। साम्यवादी नेता तो इस प्रकार के नारे बराबर लगाया करते हैं। चाउ एन लाइ का एक भाषण 'जनता की मुक्ति का युद्ध और कला तथा साहित्य की समस्याएं' एक पुस्तक 'द पुपिल्स न्यू लिटरेचर' में संगृहीत है। उसने कहा है कि साहित्य का उद्देश्य 'जनता की सेवा' है। कई बार स्थूल सिद्धान्त मानकर चलने वाला साहित्य 'पत्रकारिता' की संज्ञा भी पा सकता है। वह एक सामयिक आवश्यकता की पूर्ति करता है। शॉ और शेक्सपियर के नाटकों की तुलना करने पर यह अन्तर स्पष्ट हो जायेगा। एक फेबियन समाजवाद के सहारे अपने समय को धक्का देने में लगा रहा, पर दूसरे ने अपने युग को चिरन्तन अभिव्यक्ति दी। इसीलिए रचना में समाजशास्त्र के साथ सौंदर्यशास्त्र की मांग की जाती है।

साहित्य में समाज का जो चित्र आता है, उसे सूक्ष्म रीति से देखना-परखना होगा। स्थूल ढंग से उसे नहीं समझा जा सकता। साहित्यकार अपने समाज का जो अंकन करते हैं, वह इतिहास-सिद्ध होता है। एक ऐतिहासिक क्रम में प्रस्तुत करने के कारण वह ऊपर से चिपकाया हुआ अथवा एकांगी नहीं प्रतीत होता, उसमें एक तारतम्य आ जाता है, साथ ही उसमें शाश्वत उपादान भी सम्मिलित हो जाते हैं। यह चित्र चिरंतनता प्राप्त करता है, क्योंकि उसमें 'सामयिक मूल्यांकन' मात्र नहीं है। महान् लेखकों में वह असाधारण प्रतिभा होती है जिसके सहारे वे इतिहास-सिद्ध यथार्थ को अवतरित करते हैं। यही कारण है कि जहां वह सामाजिक यथार्थ युग का परिचायक होता है, वहीं युग-युग तक प्रवहमान भी रहता है। महान् लेखक समाज के उन प्रश्नों से जूझते हैं जिनका महत्त्व सार्वभौमिक और चिरंतन है। 'सेवासदन' और 'गोदान' की समस्याओं में यही अन्तर है। प्रश्न का समाधान करते हुए ये महान् लेखक किसी बने-बनाये नुस्खे से काम नहीं चलाते (जैसा कि प्रायः राजनीतिक करते हैं), बल्कि वे समस्या का हल भी पेश करते हैं। बीसवीं शती के कुछ उपन्यासों में गांधी अथवा स्टालिन की जय सुनने को मिलती है। जनता के प्रदर्शन को स्पष्ट करने के लिए यदि इन महापुरुषों का जय-जयकार हो, तो किसी को आपत्ति न होगी, किंतु कृति को जब एक विशेष राजनीतिक मत का प्रचार-साधन बना दिया जायेगा, तब साहित्य का विद्यार्थी उसमें 'स्थूलता' की शिकायत करेगा। युद्धोत्तर उपन्यासों में जहां वस्तु वर्णन की प्रशंसा करनी होगी, वहीं यह भी स्वीकार करना होगा कि कमजोर रचनाओं में प्रचार भी है। हिन्दी के कई उपन्यास अपने सजीव चित्रण में मार्मिक होते हुए भी अन्त में इस दुर्घटना का शिकार हो गये हैं। समर्थ साहित्यकार अपनी आंखों पर रंगीन चश्मा लगाकर समाज को नहीं देखता। वह उसे अपनी उदार संवेदन-

दृष्टि देता है। जब कभी प्रचार के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले नारों के पीछे साहित्य को ले जाने का प्रयास किया जाता है, वह अपने गौरव से वंचित हो जाता है। साहित्य तो हमारे जीवन की असंख्य सम्भावनाओं, आशाओं, आकांक्षाओं का रागात्मक चित्र है, भला उसे कठघरे में कैसे बांधा जा सकता है? महान् साहित्यकार 'फ़रमायशी' नहीं हो सकता। एक बार गेटे से उसके ड्यूक ने युद्ध के लिए कुछ प्रयाण गीत (मार्चिंग सांग) लिख देने को कहा। गेटे ने तुरन्त उत्तर दिया—"बिना मानव को घृणा किये, मैं युद्ध के गीत कैसे लिख सकता हूं। ड्यूक, आपकी जानकारी के लिए मैं यह बता दूं कि मैंने प्रेमगीत भी उसी अवस्था में लिखे हैं जब मैंने प्रेम किया है।"

समाज की साहित्यिक अभिव्यक्ति को ठीक से न समझ पाने के कारण जहां रचना और सृजन में व्यवधान आता है, गतिरोध की शिकायत की जाती है, वहीं उसके मूल्यांकन में भी अराजकता आती है। साहित्य को जनवादी, प्रतिक्रिया-वादी, समाजवादी, व्यक्तिवादी आदि खेमों में बांट दिया जाता है। इस प्रकार का यांत्रिक विभाजन तभी संभव है जब मनुष्य और जीवन का भी इसी प्रकार बंटवारा कर दिया जाये, क्योंकि आखिरकार साहित्य उसी की तो अभिव्यस्ति है। संभव है एक बार महान् रचनाकार धर्म अथवा राजनीति के कठोर शासन की अवहेलना कर जाये, वह 'सेंसर' और 'बैन' की चिन्ता न करे, किन्तु किसी धार्मिक अथवा राजनीतिक वाद के प्रबल होने के कारण उसकी कृतियों का उचित मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। कारण स्पष्ट है कि महान् लेखक की चेतना ने नारों के पीछे चलने से इनकार कर दिया है। ऐसी स्थिति में उसका समादर वादग्रस्त समीक्षक कैसे कर सकते हैं? समीक्षा भी पूर्वाग्रह और पक्षपात से बंध जाती है। पर उदार दृष्टि महत्त्व को स्वीकारती है, उसकी सीमाओं में। उदाहरणार्थ हम लेनिन के उस निबन्ध को ले सकते हैं, जो उन्होंने टालस्टाय पर लिखा है। लेनिन ने लेखक की महत्ता को स्वीकार करते हुए कहा है—"टालस्टाय ने अपने युग का सफल चित्रण किया है। उन्होंने आमने-सामने को देखा और समझा है—एक महान् कलाकार की दृष्टि से, एक महान् विचारक के मस्तिष्क से। संक्षेप में यही तथ्य है जो उनकी कृतियों को इतना गरिमामय बनाता है। मानवता के कलात्मक विकास में यह एक क्षण और है।" किंतु लेनिन टालस्टाय की शिकायत भी करते हैं—"टालस्टाय अपने युग के ऐतिहासिक क्रम, विकास-रेखा और युग शक्तियों को पहचानने में असफल रहे। 'अन्ना केरिनिना' में जो वस्तुएं उन्हें सबसे अधिक पसन्द आईं वे हैं, 'खलिहान की बातें, मजदूरों की दलीलें' आदि। साहित्य की व्याख्या के लिए मार्क्सवाद ने जो आर्थिक आधारभूमि, भौतिक दृष्टि प्रदान की है, वह सर्वथा स्तुत्य है, किन्तु साहित्य के विशाल क्षेत्र का आकलन करने के लिए उसे 'अन्तिम शब्द' मानने में स्वतन्त्र द्रष्टा संकोच करते हैं। सामन्ती अथवा

पूंजीवादी युग में जो कुछ लिखा गया है, वह सब 'अस्पृश्य' नहीं हो जाता। साहित्य में सामाजिक अभिव्यक्ति का अन्तर यहीं स्पष्ट दीखने लगता है। हमारी इन्द्रियां जिस 'गन्दगी' से मुख मोड़ लेना चाहती हैं, वही जब साहित्य के माध्यम से हमारे समक्ष आती है, तब मानस पर एक 'मार्मिक प्रभाव' पड़ता है। साहित्यकार जब समाज की कल्पना-समन्वित तस्वीर सामने हाज़िर करता है तो वह 'अनुकृति' सत्य और यथार्थ से भी अधिक प्रभावी प्रतीत होती है। साहित्य में समाज को मूर्त्त करने की यह सृजन-प्रक्रिया किंचित् जटिल और सूक्ष्म है, तब भला उसका मूल्यांकन सीधे-सादे ढंग से कैसे हो सकता है ?

साहित्य और समाज के प्रश्न से साहित्यकार के व्यक्तित्व का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। वह युग गया जब साहित्यकार को 'ऋषि' अथवा 'प्रॉफेट' कह देने भर से काम चल जाता था। बदली हुई परिस्थितियों में लेखक के व्यक्तित्व को समाज से असंपृक्त करके नहीं देखा जा सकता, देखना उचित भी नहीं है। लेखक का जीवन उसके साहित्य से विलग नहीं किया जा सकता। बॉयरन ने ग्रीस के युद्ध में भाग लिया था। गोर्की कारागार में डाल दिये गये थे। कॉडवेल स्पेन के गृहयुद्ध में काम आये। वे सभी घटनाएं इस बात का प्रमाण हैं कि साहित्यकार समाज के बहुत निकट आये हैं। उन्होंने सामाजिक आन्दोलनों में सक्रिय भाग लिया है और ये सामाजिक कर्म उनके संपूर्ण व्यक्तित्व को एक गौरव प्रदान करते हैं। किंतु जब हम किसी साहित्य की परीक्षा करेंगे तब हमें यह ध्यान में रखना होगा कि कहीं हम लेखक के जीवनचरित से अभिभूत न हो जाएं। कॉडवेल गृहयुद्ध में न मरकर यदि रोग-शैय्या पर ही समाप्त हुआ होता तो भी छोटी अवस्था में साहित्य को अपनी तलस्पर्शिनी दृष्टि से देखने वाले उस प्रतिबद्ध समीक्षक का महत्त्व कम न हो जाता। यह स्वाभाविक ही है कि एक कार्यकर्ता अथवा नेता के रूप में समाज की सेवा करने वाले अथवा उसमें सक्रिय भाग लेने वाले रचनाकार की स्वीकृति जनता में उसकी अपेक्षा अधिक होगी जो मूक साहित्यसेवी रहा है। गोर्की और माओ को संभवतः इसी कारण साम्यवादी देशों में पूजा जाता है। एक ही श्रेणी के दो लेखकों में इस प्रकार की विशिष्टता यदि समाजसेवी साहित्यकार को दी जाये तो उचित है। किंतु बात यहीं नहीं समाप्त हो जाती। समीक्षा के क्षेत्र में सामाजिक कार्यों को घसीटा जाता है। साहित्य की अपेक्षा लेखक के नेतृत्व को अधिक महत्त्व दिया जाता है। किंतु इतना निश्चित है कि लेखक का चरित्र उसके व्यक्तित्व का निर्णायक नहीं बन सकता। क्योंकि कभी-कभी वे एक-दूसरे के विरोधी बनकर भी आ सकते हैं। साधारण चरित्र महान् साहित्य की सृष्टि कर सकता है और एक साधु पुरुष मामूली साहित्य का जनक हो सकता है। चरित्र व्यक्तिगत पूंजी है जबकि साहित्य एक सामाजिक संपत्ति है। साहित्यकार का कृतित्व समाज के लिए उसके सामाजिक रोल से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसी कारण साहित्य की

परीक्षा साहित्यिक मूल्यों के आधार पर करना उचित है, जो इस बात को ध्यान में रखकर बनाए जाय कि समाज को साहित्य में अभिव्यक्ति देने की सृजन-प्रक्रिया का वास्तविक स्वरूप क्या है।

इस प्रकार इतना निश्चित है कि साहित्य और समाज का संबंध घनिष्ट होते हुए भी किंचित् समस्यामूलक है। यह रिश्ता सीधा-सादा नहीं है। साहित्य व्यापक समाज से अपना जो संबंध स्थापित करता है, उसमें सृजन और कला के रचना-विधान का महत्त्व है। साहित्य समाज की अवहेलना नहीं कर सकता, क्योंकि लेखक स्वयं एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में ही रहता, सांस लेता है। जब सर्वत्र जीवन है तो वह भागकर जाएगा कहां ? बस, एक ही स्थान है, वह है व्यक्ति का अपना अहं, जिसे कॉडवेल ने 'स्वयं का संसार' कहकर संबोधित किया है। इस प्रकार का कुंठाग्रस्त साहित्य मनोविश्लेषण का आश्रय लेकर पर्याप्त मात्रा में चल निकला है। मनुष्य की शव-परीक्षा की जो प्रणाली मनोविश्लेषणशास्त्र बताता है उसे ज्यों का त्यों साहित्य में नहीं लाना चाहिए। मनुष्य और समाज में सब कुछ है, किंतु साहित्य मानव कल्याण का ध्यान रखकर चलता है। वह दोष भी ऐसे ही प्रस्तुत कर सकता है जो कल्याण-नियोजन में सहायक हो। 'शाइलाक' की सृष्टि का उद्देश्य है, शोषण-मनोवृत्तिकी भर्त्सना। मनोविश्लेषण को प्रमुखता देकर चलने वाले लेखक प्राय : यह दावा करते हैं कि वे व्याक्ति की चेतना की मुक्ति चाहते हैं, वे मानव मन का उद्घाटन करेंगे। पर ध्यान रखना होगा कि व्यक्ति-मन की परीक्षा भी सामाजिक पृष्ठभूमि पर ही करना उचित होगा और व्यक्ति चेतना की मुक्ति के नाम पर 'यौन साहित्य' का निर्माण तो किसी भी प्रकार जायज़ नहीं है। एक छोटे से जीवन की परिक्रमा करने वाला साहित्य अपने विशिष्ट समाज में भले ही मनोरंजन का साधन बना रहे किन्तु वह व्यापक सामाजिक चेतना का स्वर नहीं बन सकता। इस व्यापकत्व का अर्थ यह नहीं है कि उसमें सार्वजनिक प्रभाव हो। साहित्य जनता का हो, व्यापक समाज से उसने प्रेरणा अवश्य ली हो, किन्तु वह उसकी वासना-पूर्ति का साधन बनकर न रह जाए। लोकप्रिय साहित्य के लिए यह आवश्यक नहीं है कि महान् भी हो। कई बार सामान्य जनता की स्वीकृति साहित्य की महत्ता की निर्णायक नहीं बन सकती। साथ ही यह भी है कि क्लिष्ट साहित्य महान् का पर्याय नहीं होता। साहित्य के सामाजिक-सांस्कृतिक तत्त्व निस्सन्देह उसकी सबसे बड़ी शक्ति हैं, पर इनकी परीक्षा बहुत समझ-बूझकर करनी होगी। विशुद्ध शास्त्रीय अथवा सौन्दर्यवादी दृष्टि से साहित्य को परखकर उस पर अन्तिम निर्णय दे देना ठीक नहीं है। सामाजिकता का तो ध्यान रखना ही होगा, किन्तु सृजन प्रक्रिया को दृष्टि-पथ में रखकर, क्योंकि यही साहित्य में समाज के प्रकाशन का मेरुदंड हैं जो उसे अन्य रचना-प्रकारों से अलगाता है।

प्रेषणीयता का प्रश्न

प्रेषणीयता का प्रश्न एक प्रकार से चिरन्तन है और प्रत्येक युग में रचनाकार ने इस कठिनाई का अनुभव किया होग. कि अपने समय को रचना में कैसे बांधा जाए और फिर उसे पाठक तक कैसे पहुंचाया जाए। इतिहास में नये मोड़ आने पर जीवन की दिशाएं थोड़ी बदलती हैं और लेखक को इसके साथ न्याय कर सकने के लिए अपनी बात नये मुहावरे में कहनी पड़ती है। रचना को ग्रहण करने वाला इस बदली स्थिति से तादात्म्य अनुभव करने में शुरू-शुरू में थोड़ी कठिनाई अनुभव कर सकता है। आरंभ में जब रचना दृश्य थी, तब लेखक को एक सुविधा यह थी कि वह कई प्रकार की चेष्टाओं द्वारा अपनी रचना का आस्वाद दर्शक को करा सकता था। भारत, यूनान, रोम में नाटकों की समृद्ध परम्परा इस ओर संकेत करती है कि नाटकों में प्रेषणीयता का प्रश्न अधिक सरलता से हल किया गया है। हम सामने उपस्थित दर्शक को जिस मनोदशा तक ले जाना चाहते हैं, उसी के अनुरूप हमारा अभिनय होता है, बशर्ते नाटक में उसकी गुंजाइश हो। जब रचना, विशेषतया काव्य, दृश्य के साथ-साथ श्रव्य की दिशा में अग्रसर हुआ तो अपने आरंभिक रूप में वह अलिखित था, लोक-उपादानों से निर्मित था और गीतों के रूप में उसका प्रचार-प्रसार हुआ। यहां भी लोक-जीवन के परिचित उपादान और संगीत तत्त्व ने प्रेषणीयता में सहायता की। समाज में आज भी अनेक ऐसे लोक स्वर प्रचलित हैं, जिनके रचीयता तक को जानने में अधिक दिलचस्पी नहीं ली जाती।

प्रेषणीयता का प्रश्न लेखक के सामने बराबर था, पर शायद इतने पेचीदा ढंग से और इतने व्यापक पैमाने पर नहीं। साधारणीकरण के माध्यम से भारतीय काव्यशास्त्र में यह प्रश्न अकादमिक ढंग से उठाया गया। पर आज जब रचना प्रायः पाठ्य हो गई है, प्रेषणीयता के लिए मिलनेवाली वे सहूलियतें बन्द हो गईं हैं जो दृश्यकाव्य को उपलब्ध थीं। नये युग की जटिलताओं ने रचना को इतना संश्लिष्ट कर दिया कि उसके भीतर जा सकने के लिए भी एक रचनात्मक तैयारी

की जरूरत है। जब हम रचना-कर्म की कठिनता की बात करते हैं, तो हम जानते हैं कि लेखक को तो यह एहसास है ही कि उनका कार्य पूर्वजों की तुलना में कितना कठिन हो गया है, किन्तु यह भी कि उसका आस्वादकर्त्ता पाठक भी कमो-बेश रूप में इसे महसूस करता है। ज्ञान-विज्ञान के अनेक आविष्कारों ने दुनिया की दूरी भौगोलिक दृष्टि से कम कर दी है। संसार का कोई भी कोना अब हमारे लिए अछूता नहीं है। पर क्या यह भी सच नहीं है कि संस्कृति के इस संक्रान्ति क्षण में मनुष्यों की समीपता क्रमशः कम होती जा रही है और वे एक दूसरे से दूर भी हुए हैं। मनुष्य के इन पारस्परिक रिश्तों को टूटने से बचाने के लिए अन्य मानववादी विचारों के साथ मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तन ने इस दिशा में पहल की और रचना को ज़िन्दगी से सीधे जोड़कर, अस्त्र के रूप में उसके प्रयोग का आग्रह किया। वेलिंस्की का विचार है कि यदि कला समाज-कल्याण की भावना लेकर चलेगी, तो वह जनता को सहज ही ग्राह्य होगी। पर यहीं प्रश्न उठाया जा सकता है कि तब बाल्मीकि, कालिदास जैसी कालजयी प्रतिभाओं का क्या होगा, जिनका आस्वाद कर सकने वालों की संख्या सदैव सीमित होगी, पर जिनका रचनात्मक व्यक्तित्व अपराजेय है।

रचना की प्रेषणीयता को जब-जब सुलझाने में कठिनाई हुई, अनजाने ही एक सरलीकरण का सहारा लिया गया, जिससे रचना में बिखराव आया, उसकी सृजनशीलता का क्षरण हुआ। भारत में उन्नीसवीं-बीसवीं शती के संधिस्थल पर नाटक को नौटंकी का रूप मिला और सामन्तकालीन दरबारों में प्रशंसित होनेवाली कविता ने खुद को कविसम्मेलनीय बनाया। श्रेष्ठ प्रतिभाओं ने भी कविसम्मेलनों में हिस्सा लिया, पर धीरे-धीरे सुग्रीव, सुकंठी अथवा हल्के-फुल्के व्यंग्यों की मांग बढ़ी। फ़रमायश को देखते हुए बिकने वाला माल तैयार होने लगा और कई बार यह सब रचना की कीमत पर हुआ। रचना के स्थान पर स्वर अथवा शब्द अहमियत पा गए और सामने जो श्रोता-समाज था, उसने रचना को मनोरंजन के साधन रूप में पाना चाहा। रचना में शायद इतना माद्दा नहीं था, या यों कहिए कि उसमें इतना धैर्य नहीं था कि वह श्रोता को उठाकर अपने स्तर तक ला सके, इसलिए प्रेषणीयता के प्रश्न को आसानी से हल करने के लिए वह खुद ही नीचे उतर पड़ी। इससे कवि को लोकप्रियता तो मिली पर उसे इसका भारी मूल्य चुकना पड़ा, कहीं-कहीं वह 'कविसम्मेलनीय' मात्र बनकर रह गया। बिना नामों की सूची बनाए कहना चाहूंगा कि हिन्दी में कुछ प्रतिभावान कवि हैं, जिनमें संभानाएं थीं, पर जिन्हें कविसम्मेलनों की दुनिया एक तरह से निगल गई। वे अच्छे कवि तो हैं पर वे श्रेष्ठतर कवि भी हो सकते थे। नयी कविता के दौर में इसीलिए गोष्ठियों का आग्रह किया गया, ताकि चुने हुए श्रोता रचना का आस्वाद ले सकें। इस प्रकार प्रेषणीयता का प्रश्न सीमित वर्ग के बीच

सुलझाने की चेष्टा की गई, पर इससे समस्या का आंशिक समाधान ही पाया जा सका।

कविता और नाटक अपने श्रोता अथवा दर्शक से सीधे बातचीत कर सकने में अधिक सुविधा अनुभव करते हैं। पर आधुनिक साहित्य में रचना की अन्य विधाओं ने भी प्रेषणीयता की इस कठिनाई का अनुभव किया और समीक्षकों ने तो लगभग खुद को अकादमिक दुनिया में कैद-सा कर लिया। उन्होंने समस्या पर सैद्धान्तिक ढंग से विचार तो किया, पर व्यावहारिक धरातल पर उसे क्रियान्वित करने का काम आधुनिक रचना पर ही छोड़ दिया। प्रेमचन्द जैसे कथाकारों ने प्रेषणीयता का प्रश्न स्वयं को आस-पास की रोजमर्रा की ज़िन्दगी से जोड़कर और एक प्रकार से अपने पाठकों की भाषा में बातें करके, हल करने का प्रयत्न किया। पर जब कथा-साहित्य में बौद्धिक विश्लेषण के आग्रह बढ़े और उससे अधिकाधिक कलात्मकता की मांग की जाने लगी, तब सवाल फिर पेचीदा हो गया। कहा गया कि हमें प्रबुद्ध पाठकों की दुनिया धीरे-धीरे तैयार करनी होगी, एक वातावरण बनाकर। पर कितने और कैसे पाठक ? प्रकाशन के बढ़ते व्यापार से रचना को इतनी सुविधा तो मिली कि लेखक अपनी बात अनेक व्यक्तियों तक जल्दी पहुंचा सकता था और उसके सामने विपक्षी प्रतिक्रिया से हतोत्साहित होने का भी भय नहीं था। पर प्रकाशन,प्रसारण और प्रचार के व्यावसायिक साधनों की अलग दुनिया है, जिससे यह ख़तरा भी आज की रचना के सामने उपस्थित है कि यदि उसकी कोई प्रतिबद्धता न हुई तो बार-बार उसके मुखौटे बदलने लगें। पर प्रतिबद्धता सांस्कृतिक होनी चाहिए, सृजन से जुड़ी हुई, रचनात्मक। उसे हर प्रकार के दबाव का सामना निर्भीकता और साहस से करना चाहिए। रचना यदि अपने सांस्कृतिक दायित्व को ईमानदारी से निभाए तो वह इन सब चुनौतियों का सामना कर सकती है।

अहम सवाल यह है कि प्रेषणीयता के प्रश्न से रचनाकार कैसे निपटे और आज की रचना तथा उसके पाठक के बीच संवाद की प्रक्रिया क्रमशः मजबूत कैसे हो ? समीक्षक इन दोनों के मध्य किसी सेतु का कार्य कर सकने में असमर्थ रहा है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता और अब रचना तथा पाठक एक-दूसरे के आमने-सामने उपस्थित हैं। पहली और प्राथमिक आवश्यकता इस बात की है कि रचना अपने को बृहत्तर जीवन से जोड़ने की कोशिश में रहे। हम जानते हैं कि यह एक लम्बी और कठिन यात्रा है पर प्रत्येक युग के श्रेष्ठ लेखक ने अपनी शक्ति भर इस चुनौती का सामना किया है। उसने पुराण, इतिहास यहां तक कि धर्म से भी मदद ली ताकि रचना से साक्षात् कर सकने में जनता को आसानी हो। पर युग के अनुरूप लेखक ने उसमें नये संदर्भ भरे, उसे सामयिकता से जोड़ा, यह उसकी सृजनशीलता है। निराला अथवा नरेश मेहता के राम आज भी युद्ध

की मुद्रा में हैं, पर वे अपनी विजय के प्रति आश्वस्त न होकर शंकाकुल हैं और देवत्व की भूमि से उतरकर सहज मानव हैं। यदि कविता को अपने लेखक बन्धुओं के बीच सिकुड़कर नहीं रह जाना है और रचना को अपनी सांस्कृतिक जिम्मेदारियों की सही पहचान है, तो इसका भी प्रजातांत्रीकरण जरूरी है। रचना के प्रजातांत्रीकरण और लोकतांत्रिक प्रणाली से तात्पर्य यह कि लेखक अपने पाठक को सीधे संबोधित करे। कविता को ड्रांइगरूम की गिरफ्त से निकालकर अधिक खुली हवा में लाना ही होगा। ध्यान यही रहे कि इस प्रयत्न में, रचना का अवमूल्यन, सरलीकरण अथवा व्यवसायीकरण न हो जाए। शुभ लक्षण है कि हिन्दी का नया साहित्य यथार्थ की विभिन्न धारणाओं से जुड़ा हुआ है और भाषा को विस्तार देने की सजग चेष्टा में है। भाषा का वह अलंकृत, कृत्रिम रूप टूट चुका है जिससे रचना और पाठक के बीच दूरी बढ़ती है। अब हम नये साहित्य के लिए एक नया मुहावरा तलाश चुके हैं और यह हमारे सधे कदम पर निर्भर करेगा कि हम अपनी बात कितने अधिक व्यक्तियों तक पहुंचा सकते हैं। प्रेषणीयता का प्रश्न इस जटिलता भरे युग में एक चुनौती है और समर्थ रचनाकार इससे निपटने की कोशिश में है। वह इसे भी बखूबी समझता है कि यह कोई अकादमिक सवाल नहीं है, बल्कि जीवन-संदर्भों से जुड़ा हुआ है। रचना का एक सांस्कृतिक दायित्व भी होता है और इसकी पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि आज का लेखक प्रेषणीयता के प्रश्न को रचना के स्तर पर सुलझाए।

प्रेषणीयता का प्रश्न किसी रचनाकार में आरंभ से ही उठता है। 'स्वान्तः सुखाय' की बात करते हुए भी उसे एहसास है कि वह केवल स्वयं से बातचीत नहीं कर रहा है, उसमें और लोग भी सम्मिलित हैं। रचना में जिस दुनिया को कैद किया गया है, यदि वह नितान्त वैयक्तिक और निजी है तो भी क्या यह संभव नहीं कि जो कुछ रचनाकार के अन्तर्जगत में घटित हुआ है, वैसे ही स्थिति किसी अन्य चेतना में भी जन्मी हो। अर्थात अनुभव की असामान्यता अथवा 'एबनॉर्मलिटी' का सामान्यीकरण अथवा 'नार्मलाइज़ेशन' प्रेषणीयता की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम है। इस अवसर पर यह बात अधिक महत्त्व की होती है कि रचनाकार किस दृष्टि अथवा 'कोण' से स्वयं को अभिव्यक्ति देना चाहता है। कालिदास के 'कुमारसंभव' के आरंभ में हिमालय नगाधिराज का वर्णन एक सार्थक भूमिका है, क्योंकि हिमकन्या पार्वती की जन्मस्थली और लीलाभूमि यही है। प्रबन्धात्मकता के कारण भी कुमारसंभव की अपर्णा, अभिज्ञानशाकुन्तल की शकुन्तला तथा मेघदूत की यक्षप्रिया में अंतर हो जाता है। ये तीनों नारियां प्रेमभावना से किसी न किसी रूप में सम्बद्ध हैं और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने पर कालिदास सभी में कमोवेश रूप में मौजूद हो सकते हैं पर प्रबन्धकाव्य, नाटक और गीतकाव्य के अलग-अलग माध्यमों के कारण भी रचनाकार के कोण बदले हैं।

सामाजिक प्रतिबद्धता के प्रति समर्पित कवि अथवा अन्य किसी भी विधा का लेखक वैयक्तिक जिन्दगी में पायी गई अनुभूति का सामाजीकरण करता है। 'सोशलिस्ट रियलिज्म इन लिटरेचर एण्ड आर्ट' में ऐलेक्ज़ेण्डर आवश्चेन्की का कथन है कि 'जो कलाकार जनता के साथ सहानुभूति रखता है वह मनुष्यों और चीजों को जनता की निगाह से देखने लगता है, और संसार का भी उसी नज़रिए से मूल्यांकन करता है।' वह इसी क्रम में यह स्वीकार करता है कि 'इतिहास के दौर में इन्सान बदलते रहते हैं, इसका भी ध्यान रखना होगा, (पृ० २१४), जाहिर है कि रचना में वह दृष्टि महत्त्वपूर्ण तत्त्व है जिससे कोई रचनाकार अपनी कृति में सक्रिय होता है और प्रेषणीयता के प्रश्न का सुलझना-उलझना. इस पर काफी निर्भर करता है। संकरी दृष्टि वाले रचनाकार अक्सर यह शिकायत करते हुए पाए जाते हैं कि उनकी रचना को ठीक नहीं समझा गया।

प्रस्थानबिन्दु के साथ रचना की यह जानकारी भी जरूरी है कि आखिर वह कहां जाना चाहती है, उसका गन्तव्य क्या है? बिना लक्ष्य को जाने अपनी बात तीक्ष्णता और शक्ति से नहीं कही जा सकती। अगर किसी स्थिति को उसके सम्पूर्ण परिवेश में उजागर करके रख देना भर रचनात्मक कर्तव्य है तो भी प्रश्न है कि क्या रचनाकार को, अपनी प्रतिभा से, उस सबका संयोजन करने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए? मैं समझता हूं कि रचनाकार का परीक्षा-क्षण यही है कि वह कितनी शक्ति के साथ स्थितियों, दृश्यों, पात्रों का संयोजन इस ढंग से कर सकता है कि बिना किसी नारेबाजी के, पाठक को वह अपने साथ ले चलकर उस गन्तव्य पर पहुंचा दे, जो कि उसका अभीष्ट है। इस प्रयास में वह जितने अधिक लोगों को शरीक कर सकेगा, प्रेषणीयता का प्रश्न उतनी ही अच्छी तरह सुलझ सकेगा। समाज के लड़खड़ाने पर जब रचनाकारों की दुनिया सिकुड़ती है और वे अनजाने में ही प्रवहमान धार से कटते हैं, तब रचना और पाठक के बीच की दूरी बढ़ती है और कभी-कभी तो लेखकों का यह एहसास तक खत्म होता नज़र आता है कि कोई उन्हें समझ रहा है या नहीं। पर यह स्थिति खतरनाक है क्योंकि इससे रचना की सामाजिक-सांस्कृतिक भूमि समाप्त होती है। रचनाकारों को यह एहसास तो बना ही रहना चाहिए कि आखिर वे अपनी बात अधिक से अधिक लोगों तक कैसे पहुंचाएं? पाठक की तलाश का रास्ता उतना आसान नहीं जितना प्रायः समझ लिया जाता है। खुद को फिल्माने का अरमान लिये जब कुछ लेखक धन-यश दोनों एक साथ पाना चाहते हैं तब शायद उन्हें यह ख्याल भी नहीं रहता कि असली मुद्दा उसके हाथ से छूट गया है। यह एक प्रकार का आत्मछल या पलायन है और इस सरलीकरण से प्रेषणीयता का प्रश्न हल नहीं किया जा सकता।

रचनाकार की स्थिति दुहरी-तिहरी है और वह एक साथ कई रूपों में

विद्यमान है। एक ओर उसकी वैयक्तिक दुनिया है जिसमें उसकी निजी प्रतिक्रियाएं भी सम्मिलित हैं। पर वह एक सामाजिक व्यक्ति भी है क्योंकि उसे अपनी रचनात्मकता को जीवित रखना है और अनुभव के लिए उसे अपने वैयक्तिक जीवन से बाहर झांकना अनिवार्य है। जो कुछ उसने इकट्ठा किया है, उसे संयोजित करके पाठकों को लौटा देना भी उसका सांस्कृतिक दायित्व है और इस अवसर पर आवश्यकता होती है कि लेखक अपने रचनात्मक व्यक्तित्व को 'पायेदार' बनाए। बिना अहं का विलयन किए, धार-धार बहे, यह व्यक्तित्व नहीं बन सकेगा, ऐसा मैं मानता हूं। बार-बार यह सोचना कि लेखक के रूप में मैं विशिष्ट प्रतिभावान हूं, क्रमश: स्वयं को ज़िन्दगी से काटते चले जाना है। अहं के उग्र रूप धारण करने से रचना में पच्चीकारी बढ़ती है। उसकी सहजता धीरे-धीरे मरने लगती है और रचनाकार अपने पाठकों से दूर होता जाता है। सूफ़ियों ने अपने दर्शन की शुरुआत एक उदार भूमिका से की क्योंकि वे इस्लामी कट्टरता से असंतुष्ट थे। उन्होंने अहं के विलयन का आग्रह भी किया, पर उनमें से कुछ कई बार प्रतीकों की एक ऐसी दुनिया निर्मित करने लगे कि धीरे-धीरे वह प्रतीक-जगत कुछ लोगों की समझ तक सीमित रह गया। पर जिन सूफ़ी कवियों ने लोकगाथाएं अपनाईं, वे समाज-स्वीकृत हुए। अहं से मुक्ति का इरादा अगर सामाजिक-सांस्कृतिक प्रतिबद्धता नहीं है तो रचना में उसकी सार्थकता संदेहास्पद ही मानी जाएगी। सामयिक रचना के संदर्भ में यह बात और भी अहमियत रखती है क्योंकि आज की दुनिया अनेक प्रकार के विचार-शिविरों में बंट गई है। यहां तक कि समाजवादी व्याख्याओं को लेकर भी टकराहट है। स्वाभाविक है कि वैचारिक संघर्षों के बीच प्रेषणीयता का प्रश्न और भी जटिल हो गया। ऐसे में यदि समर्थ रचनाकारों ने अपने 'अर्जित सत्य' को प्रतिपादित करना चाहा, तो भी कई बार ऐसा हुआ कि उनकी आवाज़ ठीक से सुनी-पहचानी नहीं गई। इसके विपरीत प्रचार-साधनों का इस्तेमाल करने वाले लोग बाजी मार ले गए। ऐसे अवसरों पर पाठकों की सच्ची परख और समीक्षक की सही समझदारी प्रेषणीयता का प्रश्न सुलझाने में सहायक होती हैं।

प्रेषणीयता का प्रश्न रचनाकार और पाठक के बीच तक सीमित करके देखना रचना को जीवन के वृहत्तर संदर्भों से काट देना है। कोई रचना तभी प्रेषणीयता को सही मायनों में प्राप्त कर सकती है जब वह जो कुछ कहना चाहती है, वह इतना सार्थक हो कि उसमें अधिक से अधिक व्यक्ति शरीक हो सकें। प्राय: प्रेषणीयता के संदर्भ में कुछ गलत बातें कही जाती रही हैं और असली मुद्दे से हमारा ध्यान हटाया जाता रहा है। जैसे जिस समाज को दो वक्त रोटी भी मयस्सर न हो, वहां आत्मनिर्वासन जैसे पूंजीवादी सभ्यतावाले प्रश्नों को उठाना। कह दिया जाता है कि रचना की दुनिया बदली है, उसके पाठक बनेंगे। नई

भाषा में, नये मुहावरे में बात कही जा रही है, धीरे-धीरे पहचानी जाएगी, आदि ! पर यह सवाल अकादमिक नहीं है और न केवल भाषा अथवा तर्जबयां से इसका संबंध है। जनकवि हो पाना एक कठिन कार्य होता है और हिन्दी में वह तुलसी या कबीर जैसी इनी-गिनी प्रतिभाओं के भाग्य में ही है। पर निराला एक दृष्टान्त पेश करते हैं कि वे भाव और भाषा के विभिन्न स्तरों पर आते-जाते भी प्राय: प्रेषणीय हैं, जबकि नासमझ लोग कभी उनके काव्य से दुरुहता की शिकायत करते थे। कारण स्पष्ट है। निराला में जो छवि अंकित है, पहले उसका सामाजीकरण किया गया है। प्रेयसी जब मान, कुल, शील, धर्म के बंधनों की मारक विवशता का जिक्र करती है तब वह कवि-प्रिया मात्र नहीं रह जाती, वह समाज की सड़ी-गली मान्यताओं की ओर संकेत करती है। वह प्रेषणीयता पा जाती है और भाषा की प्रांजलता हमें उसके साथ जुड़ने में अधिक बाधा नहीं बनती। 'राम की शक्तिपूजा' जैसी समासबहुला भाषा के बावजूद 'पृथ्वी-तनया-कुमारिका-छवि' के साथ हमारा तादात्म्य इसीलिए संभव होता है क्योंकि इस माध्यम से निराला सम्पूर्ण पृथ्वी की, शोषण से मुक्ति का आह्वान करना चाहते हैं। असाधारण और वैशिष्ट्य को सहजता के बिन्दु पर लाये बिना प्रेषणीयता का प्रश्न हल नहीं किया जा सकता और सहजता केवल 'कहने की कला' का नाम नहीं है, वह जीवन से जुड़ने, रचना के सांस्कृतिक दायित्व को निभाने की कला है। जो बिम्ब मुझमें जन्मा है, उसे मैं किस तरह अपने पाठक तक इस रूप में पहुंचा दूं कि उसमें भी वही आन्दोलन हो, यह प्रश्न तो रचनाकार में बाद को उठेगा। पहला प्रश्न तो यही है कि उसमें कौन-सा बिम्व जन्मा है, वह कितना गहरा और संवेद्य है, उसमें कितने लोग सम्मिलित हो सकते हैं और प्रेषणीयता के संदर्भ में यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है।

सृजन और समीक्षा

सृजन और समीक्षा के संबंधों पर विचार करते हुए यह स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि साहित्य के विजयमंच पर समीक्षक ने दूसरा स्थान ही पाया है और कृति-रचनाकार को श्रेष्ठ घोषित किया गया है। कारण अनेक हो सकते हैं, पर मुख्य अंतर उस प्रस्थानबिन्दु का है जहां से यात्रा आरंभ की जाती है। कृतिकार जीवन के सीधे सम्पर्क में आता है और महाकवि गेटे की शब्दावली में तो वह 'जीवन-सम्भोग' तक से गुज़रता है, अर्थात् उससे घनिष्टतम संबंध स्थापित करता है। पर समीक्षक को दुर्भाग्यवश केवल साहित्य-समीक्षक का पर्याय मान लिया गया है और यह धारणा बद्धमूल हो गयी कि वह कृतिकार के समान, जीवन के निकट संपर्क से प्राप्त अनुभूतियों का उपयोग अपने लेखन में अधिक नहीं करता। इस संबंध में दो भ्रांतियों का टूटना आवश्यक है ताकि सृजन और समीक्षा का अन्तराल कम हो सके। पहली भ्रांति तो यह कि समीक्षा केवल साहित्यिक अनुशीलन-विवेचन का नाम है। जो लोग ऐसी कल्पना करते हैं, वे शुद्ध साहित्य के उस गुज़रे ज़माने में रह रहे हैं जिसे सामन्तवादी युग का अवशेष-मात्र माना जा सकता है। समीक्षा केवल साहित्यिक रचना की व्याख्या नहीं है, वह प्रत्येक सृजन और उस मानसिक-बौद्धिक क्रिया से संबंध रखती है जिसने किसी-न-किसी रूप में अभिव्यक्ति पा ली है। इस दृष्टि से शताब्दियों पूर्व प्राप्त किसी वैज्ञानिक सत्य को चुनौती देना भी समीक्षा का धर्म है और सचाई तो यह है कि सभ्यता-संस्कृति के उत्कर्ष का यही रहस्य है कि मानव-प्रज्ञा ने बारबार स्थापनाओं को ललकारा है और नये सत्य को उपलब्ध करना चाहा है। जब हम साहित्य-समीक्षा पर विचार करते हैं तो हमें यह ध्यान रखना होगा कि साहित्य जीवन-प्रसूत है और यदि हम समीक्षा के साथ न्याय करना चाहते हैं तो हमें उस पूरी तैयारी के साथ इस क्षेत्र में उतरना होगा जो स्वयं कृतिकार के लिए आवश्यक होती है। इसी प्रकार समीक्षा के संबंध में प्रचलित दूसरी भ्रांति, जो पहली से अधिक खतरनाक है, टूटनी चाहिए। जीवन से प्रत्यक्ष अनुभव-सामग्री

प्राप्त कर रचनाकार अपनी कृति में उसे अभिव्यक्ति देता है, जिसकी प्रक्रिया संश्लिष्ट है, क्योंकि उसने जीवन को किसी विवरण-प्रसारक अथवा 'कमेन्टेटर' के समान कह नहीं दिया है, वरन उसमें अपनी चेतना को भी सम्मिलित किया है। इसी कारण जीवन-दृश्यों के समान होते हुए भी रचनाकारों की प्रतिक्रियाएं उसके विषय में भिन्न-भिन्न प्रकार से होती हैं, जैसे सामने रखी हुई मूर्ति को श्रेष्ठ चित्रकार अपने-अपने 'कोण' से देखकर और अपनी-अपनी दृष्टि से समझकर उसे अंकित करना चाहते हैं। उनके लिए वह चित्र सपाट न होकर अनेक आयामात्मक होता है। सृजन और समीक्षा दोनों यदि जीवन-सन्दर्भों से जुड़े हुए साहित्य रूप हो सकते हैं तो उनकी दूरी काफी कम की जा सकती है।

सृजन और समीक्षा में एक समानान्तर रचनाप्रक्रिया संभव है, यदि समीक्षक सर्वप्रथम स्वयं को जीवन की उस विराटता से सम्बद्ध करने की चेष्टा करे, जिसने रचनाकार को अभिव्यक्ति के लिए प्रेरित किया है। कवि, कथाकार अथवा किसी भी साहित्यविधा के स्रष्टा जीवन को कैद करने के प्रयत्न में एक संपूर्ण संश्लिष्ट प्रक्रिया से गुजरते हैं और इसकी सही पहचान जब तक नहीं होगी तब तक समीक्षा जड़ और निस्पंद होगी। उसमें, संभव है अतिरिक्त पांडित्य-प्रदर्शन आ जाय, पर वह जीवंत नहीं बन सकती, एक प्रकार का बाह्यारोपण बनकर रह जायगी। कृति से सही साक्षात्कार समीक्षा की पहली शर्त है और इसके लिए समीक्षक को, रचनाकार की चेतना के उस धरातल को पहचानना होगा, जहां सृष्टि की गई है। यह ग्रहणशीलता समीक्षक से भी उसी प्रकार चेतना के सामर्थ्य की मांग करती है जिसके बिना रचना उत्कर्षपूर्ण ऊंचाइयों पर नहीं जा पाती। यदि रचनाकार के लिए विकसित संवेदन बड़ी अनिवार्यता है ताकि वह जीवन से संभोग कर सके, तो समीक्षक के लिए भी जीवन-संबंधी व्यापक अनुभव प्रशस्त पृष्ठभूमि का कार्य करते हैं और रचना में प्रवेश करते समय उसे पूरी सहानुभूति के साथ उतरना होगा।

प्रश्न किया जा सकता है कि रचना अपना कच्चा माल जीवन से सीधे ही प्राप्त करती है, पर समीक्षा ? इसका उत्तर है कि सृजन और समीक्षा पर्याय नहीं बन सकते, किन्तु सृजनात्मक समीक्षा ही वास्तविक समीक्षा है; शेष साधारण आलोचना मात्र—जड़ और मृत। समीक्षा में सृजनात्मकता का तत्त्व उसी समय आ सकता है जब समीक्षक पूरी बौद्धिक-मानसिक तैयारी को लेकर लगभग रचना के साथ-साथ यात्रा कर सकने की शक्ति रखता हो। क्योंकि रचना संश्लिष्ट प्रक्रिया है, इसलिए समीक्षा को सर्वप्रथम उन एकाधिक सूत्रों की अलग-अलग पहचान करनी होगी जिनके सम्मिलन से कृति ने अंतिम रूप ग्रहण किया है। वैज्ञानिक शब्दावली में यह एक प्रकार से अणुओं की पहचान का क्षण है, जिससे सृष्टि निर्मित हुई है। वे 'पंचभौतिक पदार्थ' तलाशे जाने होंगे जिन्होंने जगत को

यह रूप दिया है। रसशास्त्र में, जिसे भाव-विभाव-अनुभाव कहकर सम्बोधित किया गया है और जिसका विस्तृत विवेचन हुआ है, यह एक प्रकार से रचना-प्रक्रिया को सूक्ष्मता के साथ जानने की चेष्टा है। वह बात दूसरी है कि साधनों के उपयोग की शक्ति सब समीक्षकों में नहीं होती। रचना का प्रथम क्षण वह है जब रचनाकार जीवन से साक्षात्कार करता है। दूसरे क्षण में जीवनदृश्य उसके अव-चेतन में प्रवेश कर जाते हैं। क्योंकि वे तत्काल प्रकाशित नहीं होते, इसलिए अवचेतन में गर्भस्थ रहते हैं और रचना का यह दूसरा क्षण सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसी समय रचनाकार अनजाने ही अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों का योग उन सामाजिक दृश्यों से कराता है जो उसने व्यापक जीवन से प्राप्त किये थे। इसी प्रक्रिया में जीवन एक होकर भी विभिन्न रचनाओं में नये-नये रूप पा जाता है। इस दूसरे क्षण में अनेक अनुभव-कण चेतना का सम्पर्क पाकर, अनुभूतियों में रूपांतरित होते हैं और उन्हें प्रकाशित हो सकने की सामर्थ्य मिलती है। तब रचना का तीसरा क्षण, अभिव्यक्ति अथवा प्रकाशन का क्षण आ उपस्थित होता है और रचनाकार शब्द तथा शिल्प के अवयवों की सहायता लेता है जो अनुभूतियों को आकार देंगे। ध्यान रखने की बात है कि काव्य अथवा चित्र अवचेतन में पहले ही जनम जाते हैं, भाषा अथवा रंग तो केवल एक माध्यम का कार्य करते हैं, जिनकी सहायता से अन्तस्थ रचना को श्रव्य, गोचर, पठनीय बना दिया गया है। रचना का चौथा और अंतिम क्षण भी हो सकता है कि आखिर महत्त्वपूर्ण तो वही है जो समन्वित प्रभाव कोई रचना हम पर छोड़ जाती है।

इस प्रकार रचना की संश्लिष्ट प्रक्रिया से गुज़रे बिना समीक्षक उस सृजनात्मकता को पकड़ ही नहीं सकता जो रचना का मूलाधार है। साधारण पाठक सीधे भोजनालय में प्रवेश कर सकता है और सम्पूर्ण सामग्री को अपनी रुचि के अनुसार ग्रहण कर लेता है। पर समीक्षक की कठिनाई दोहरी है कि पाकशाला में गए बिना उसे उस प्रक्रिया को पहचानना होगा, जिससे पार होकर योजना ने अपना वर्तमान रूप ग्रहण किया है। पर मानसिक धरातल और चेतना के स्तर पर समीक्षक को भी, उस प्रसवपीड़ा की सम्मिलित भावभूमि को निकट पहचान करनी ही होगी, नहीं तो कृति के साथ न्याय नहीं हो सकता। इसी को रचना और समीक्षा की समानान्तर यात्रा अथवा चेतना के स्तर पर एक-दूसरे का मिलन कहा जा सकता है। ऐसा कैसे संभव है कि रचना की संपूर्ण प्रक्रिया को पहचाने बिना उसके विषय में कोई वक्तव्य दे दिया जाये। यदि समीक्षा की जीवन-संपृक्ति प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष भी घोषित कर दी जाये, तो भी उसे रचना के साथ-साथ यात्रा करनी ही होगी और यही समीक्षा की सृजनात्मकता का मुख्य चरण है।

एक दूसरा प्रश्न भी उठाया जा सकता है कि क्या समीक्षा का कोई प्रयोजन है? उसकी कोई सार्थकता भी है अथवा नहीं? साहित्य का निश्चय ही एक

सामाजिक-सांस्कृतिक पक्ष ऐसा है। पर क्या समीक्षा भी वैसा दावा कर सकती है ? संभवतः कठिनाई तब आरंभ हुई जब समीक्षक निर्णायक बन बैठा और उसने किसी मठाधीश के समान फ़तवे देने का काम शुरू कर दिया। यह समीक्षा का निगतिकाल कहा जायेगा, जो संस्कृतियों के उत्थान-पतन की लम्बी यात्रा में स्वाभाविक है। समीक्षा के ऐसे दुर्बल क्षणों में रचना ने अपने पाठकों को सीधे ही संबोधित करना चाहा और जब-जब समीक्षक ने ग़लत निर्णायक का 'रोल' लिया, रचनाकार अपना व्याख्याता स्वयं बना है। योरप के स्वच्छन्दतावाद युग में कवियों को अपने काव्यसंकलनों के आरंभ में लम्बी भूमिकाएं देनी पड़ीं क्योंकि वे अपना मंतव्य स्पष्ट करना चाहते थे। 'लिरिकल बैलड्स' की भूमिका में वर्ड्सवर्थ के वक्तव्य को स्वच्छन्दतावादी काव्य का घोषणापत्र कहा जाता है और लगभग इसी प्रकार का श्रेय 'पल्लव' की भूमिका को भी दिया जा सकता है। कवियों का इस प्रकार आत्मकथ्य का सहारा लेना स्वयं प्रमाणित करता है कि रचनाकारों और समीक्षकों के बीच संवाद की परम्परा टूटने लगी थी। कभी जॉन्सन किसी गोल्डस्मिथ के लिए महत्त्वपूर्ण हो सकते थे, पर स्वच्छन्दतावादी कवि समीक्षक के मठाधीशत्व को स्वीकार करने के लिए तत्पर नहीं थे और ऐसे भी वक्तव्य दिये गये कि 'कवियों के विषय में केवल कवि ही निर्णय दे सकते हैं।' अपनी रचना के संदर्भ में कवि का स्वयं व्याख्याता रूप में आगमन समस्या को और भी उलझा सकता है, क्योंकि कवि इस अवसर पर खुद में वह तटस्थता नहीं ला पाता जिसकी आशा हम समीक्षक से करते हैं। स्वच्छन्दतावादी कवि-व्याख्याताओं की भूमिकायें उनके आशय को तो स्पष्ट करती हैं और इससे भावी समीक्षकों को स्वच्छन्दतावाद के वास्तविक स्वरूप को समझने में सुविधा भी हुई, पर उनमें भावनामयता है और रूमानी काव्य के उचित मूल्यांकन के लिए, समीक्षकों की प्रतीक्षा आखिर करनी ही पड़ी।

इस दृष्टि से रूमानी काव्य के विरोध में आवाज़ उठानेवाले योरप के नये कवियों में समीक्षक का व्यक्तित्व अधिक प्रखर है। इस समय तक युग बौद्धिक भूमि पर आ चुका था और स्वयं नये कवियों के आग्रह भावात्मक के स्थान पर विचारात्मक अधिक थे। इतना ही नहीं, वे किसी सीमा तक दुहरी भूमिकाओं का निर्वाह कर रहे थे। रचनाकार और समीक्षक से, यद्यपि नये हिन्दी काव्य के संदर्भ में यह शिकायत की जाती रही है कि कवि के इस दुहरे व्यक्तित्व में कहीं-कहीं विरोधाभास भी है और उनकी रचनाओं तथा समीक्षाओं का स्वर सर्वत्र एक ही नहीं कहा जा सकता। टी० एस० इलियट में रचनाकार-समीक्षक का एक प्रभावशाली समन्वय है और वे स्वयं इन दोनों विधाओं को अलग-अलग रखकर देखने के पक्ष में नहीं हैं। उनका विचार है कि रचनाकार भी किसी बिन्दु पर समीक्षक होता है, क्योंकि कृति-निर्माण की प्रक्रिया में वह जागरूक रहता है। उनका तो

ख्याल है कि यदि कुछ सृजनात्मक प्रतिभायें महान् होती हैं, तो इसलिए भी कि उनकी समीक्षाशक्ति अन्य से विशिष्ट होती है। इलियट योरप की रूमानी कविता के विरोध में जानेवाले कवि हैं और उनकी प्रतिक्रियाएं बौद्धिक हैं, इसलिए उनके इस वक्तव्य को आंशिक सत्य के रूप में ही ग्रहण करना उचित होगा। स्पष्ट है कि यहां सृजन और समीक्षा के पार्थक्य को समाप्त करने की चेष्टा की गई है। यदि रचना और समीक्षा एक ही प्रतिभा में अपना संयोजन प्राप्त करती हैं तो भी यह आवश्यक है कि उन दोनों का विलयन हो जाय और उनमें अंतराल अधिक न बना रहे, अन्यथा प्रतिभा न तो रचना में समर्थ होगी और न समीक्षा में ही। जब-जब रचना की उत्कृष्टता क्षीण हुई है तथा समीक्षा अंधेरी गलियों में भटकी है, तब-तब उसका एक कारण यह भी कि इन दोनों विधाओं में अधिक तारतम्य नहीं था; रचना और समीक्षा की दिशाएं एक-दूसरे के विरोध में जा रही थीं। कवि ने 'आत्मा की आवाज़' का वक्तव्य तो समीक्षक की हैसियत से दे दिया, पर स्वयं अपनी रचनाओं में उन्हें प्रमाणित नहीं कर सका और आवाज़ों की नीलामी बार-बार होती गई। समीक्षा और रचना सृजनात्मक स्तर पर ही एक-दूसरे से मिल सकती हैं।

समीक्षा पूर्णतया निरर्थक नहीं है, बावजूद इसके कि बार-बार उसे चुनौतियों का सामना करना पड़ा है। रचना-प्रक्रिया की अंतरंग परीक्षा से स्पष्ट है कि रचनाकार स्वयं अपना समीक्षक भी है—रचना के स्तर पर और वह स्वतंत्र है कि इसे जन्म देने के बाद भी वह समीक्षक बना रहे, तथा वक्तव्यों से, अपने आधार अथवा 'स्टैण्ड' को स्पष्ट करे। पर जब रचनाकार रचना के क्रम में समीक्षक है और स्वयं को पूर्णतया प्रवाहित नहीं होने दे सकता, तब उसे यह ध्यान भी रखना होगा कि कहीं समीक्षा उसके सृजन पर हावी न हो जाय। और हमारे सामने जब रचना अपने अन्तिम रूप में प्रस्तुत हो तब हम उसकी सृजनात्मकता से ही परिचय प्राप्त करें, समीक्षा के तत्त्व संपूर्ण रचना-प्रक्रिया में विलीन हो चुके हों। पर समीक्षा का, साहित्य की इस अंतरंगता के अतिरिक्त भी प्रयोजन है, बशर्ते वह अपना सृजनात्मक धरातल प्राप्त कर ले। यदि साहित्य का सामाजिक पक्ष होता है तो फिर विधा के रूप में समीक्षा का क्यों नहीं हो सकता? सचाई तो यह है कि श्रेष्ठ समीक्षा में रचना एक प्रकार से अपना पुनर्जन्म भी प्राप्त करती है जैसे जीवन रचना में पुनर्जन्म पाता है। रचना की संपूर्ण प्रक्रिया से गुजरते हुए समीक्षक उन सूत्रों तक पहुंचता है जहां से रचना का निर्माण आरंभ हुआ था। एक प्रकार से यह उत्स की तलाश है और फिर धीरे-धीरे वह समस्त पथरेखा को पहचानता है जिससे होकर रचनाकार अंतिम बिंदु तक आया है। रचनाकार की सफलता के लिए यह अपेक्षित है कि वह रचना के विभिन्न अवयवों का, अपने सृजनात्मक व्यक्तित्व में समीकरण करके, उसे एक समन्वित-विलयित रूप दे,

जिसमें तत्त्वों की पृथक सत्ता विलीन हो जाती है। उसी प्रकार समीक्षक भी शल्य-परीक्षा करते हुए किसी कृति को खंड-खंड करके देखने मात्र से अपने दायित्व का निर्वाह नहीं कर सकता। उसे रचना को समग्र रूप में देखना होगा, क्योंकि रचनाकार को टुकड़ों में देखने की पद्धति कृति को और भी बीभत्स कर देगी। आई० ए० रिचर्ड्स अथवा गोल्डमान जैसे समीक्षक रचना के समग्र व्यक्तित्व अथवा संपूर्ण इकाई के मूल्यांकन का आग्रह करते हुए, परोक्ष रूप से प्रतिमानों के प्रश्न की ओर भी संकेत करते हैं। रचना जिन तत्त्वों से मिलकर आकार ग्रहण करती है, उन्हें जान लेना आवश्यक है। पर मुख्य प्रश्न यह है कि रचनाकार ने उन सबका संयोजन अपनी प्रतिभा और सृजनात्मक व्यक्तित्व के उत्कर्ष से किस प्रकार किया है। समीक्षा की सृजनात्मकता तब टूटती है, जब हम रचना को खंड-खंड करके रखते हैं और उसकी शव-परीक्षा करना चाहते हैं। रचना को सही समग्रता में पकड़ लेना, उसकी समष्टि में पा जाना स्वयं में एक सृजनात्मक उपलब्धि है और श्रेष्ठ समीक्षक विवरण-वृत्तांत में जाए बिना, इस स्तर पर पहुंचते हैं। साधारण आलोचनाएं शल्य-क्रिया तो कर लेती हैं, पर रचना की समग्रता उनकी पकड़ में नहीं आती, जबकि सृजनात्मक समीक्षा संभव है कुछ विवरणों को छोड़ भी जाय पर महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ उसमें नहीं छूटते और वह रचनाकार के संपूर्ण व्यक्तित्व को पहचान कर रचना को उसकी समग्रता में पा लेती है। जैसे संभव है, कृतिकार स्वयं विवरणों में न जाय, पर उसमें जीवन की मज़बूत पकड़ होती है। यदि हमें काव्य से भाव-विभाव-अनुभाव की तलाश का आग्रह है तो भी यह नहीं भूल जाना चाहिए कि खंड-खंड होकर भी रचना रसनिष्पत्ति में सफल है अथवा नहीं ? फिर जब कृति का रसबोध ही बदल जाय और अनेक प्रश्न-वाचक चिह्न उपस्थित हों, तब तो रचना को समग्रता में पाने का प्रयास और भी संगत हो जाता है।

समीक्षा की सृजनात्मकता का सवाल प्रतिमानों से जुड़ा हुआ है। प्रतिमान अथवा निकष वे साधन हैं, जिन पर हम किसी कृति की परीक्षा करना चाहते हैं। पर साहित्य की चिरंतनता में विश्वास होते हुए भी, युग और स्थितियों के बदलते तेवरों को स्वीकृति देनी होगी, जिसे रामायण और महाभारत युग के परिवर्तित जीवनमूल्य तक में देखा जा सकता है। रचना युगसंपृक्ति से निर्मित होती है, तो फिर स्थायी प्रतिमानों का प्रश्न उठाते समय हमें सावधान रहना चाहिए। प्रतिमान किसी सृजन के भीतर से जनमते हैं और समीक्षा-प्रतिमानों के आधार पर रचनाकार अपने सृजन में सक्रिय नहीं होता। आरंभ में समीक्षक के सामने श्रेष्ठ कृतियों के कुछ शीर्ष उदाहरण रहे होंगे, जिनके आधार पर प्रतिमानों का निर्माण हुआ। अरस्तू के काव्यशास्त्र की कल्पना हम यूनानी दुःखान्त नाटकों की समृद्ध परंपरा के बिना नहीं कर सकते। पर जो प्रतिमान कुछ विशेष रचनाओं को

दृष्टिपथ में रखकर निर्मित होते हैं, वे सभी कृतियों पर समान रूप से कैसे आरोपित किये जा सकते हैं ? समीक्षा, श्रेष्ठ समीक्षा कृति के भीतर से जन्म लेती है और वह किन्हीं बने-बनाये नुस्खों को इस कारण भी अस्वीकार कर देती है कि ये प्रतिमान एक विशेष युग-सन्दर्भ की रचनाओं के लिए निर्मित हुए थे और अब ज़माने के बदलते तेवरों के लिए अपर्याप्त हैं। पर कौन चीज़ है जो बार-बार परिवर्तित होने वाले जीवनमूल्यों और परिस्थितियों में साहित्य को एक प्रवहमान धारा के रूप में देखती है और कालजयी कृतियों को आदर देती है। यह समीक्षा की वह सार्थक सृजनशीलता है जो भीतर जाकर उनका विश्लेषण कर सकने की सामर्थ्य रखती है और जिसे कृति को प्रतिमानों के चौखटों में फिट करके देखने मात्र से सन्तोष नहीं होता। प्रतिमानों को रचना के भीतर से पा लेना समीक्षा की उच्चतम सृजनात्मकता तो है ही, वह युगों पूर्व रची गई कृतियों में भी नयी रेखाएं तलाश कर लेने का शुभारंभ भी है। कोई कृति, सामयिक सन्दर्भों से जुड़ कर भी कैसे कालजयी हो जाती है और बदलती हुई जीवन स्थितियों में भी बासी नहीं पड़ती, इसे सृजनशील समीक्षा ही पहचान सकती है। इसी कारण समीक्षा के दौर में ऐसे क्षण आए हैं जब श्रेष्ठ रचनाओं के साथ न्याय कर सकने के लिए समीक्षकों को एक संपूर्ण प्रतिमानशास्त्र ही निर्मित करना पड़ा और निश्चय ही इस महान् कृति में भीतर से प्राप्त किया गया है, बाहर से नहीं।

समीक्षा के प्रतिमान जीवन-निरपेक्ष नहीं हो सकते, इसका हमें ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि जिस साहित्य के लिए हम उनका उपयोग करना चाहते हैं, वह स्वयं जीवन-सापेक्ष है। इस प्रकार समीक्षा की जो सामाजिकता उत्पन्न होती है उसके कई स्रोत हैं : जीवन, उसे अभिव्यक्ति देने वाला रचनाकार और इन्हीं के साथ पाठक जो रचना के माध्यम से जीवन तक जाता है। रस पर विचार करते हुए विभिन्न सम्प्रदाओं ने इस प्रश्न को उठाया था कि वास्तव में रस की स्थिति कहां है और साधारणीकरण अथवा सामाजीकरण किसका होता है ? पर मुख्य बात यह कि यदि समीक्षा सार्थकता प्राप्त करना चाहती है तो उसे हर युग में नये मुहावरे की खोज करनी होगी, और यह प्रयास समीक्षक से सृजनात्मकता की मांग करता है। हम स्वीकार करते हैं कि साहित्य में प्रयुक्त होते-होते शब्द इतना घिस-पिट जाते हैं कि वे एक रूढ़ अर्थवाहक बन जाते हैं, और बदलते बोध के साथ इनके सहारे न्याय नहीं किया जा सकता। पर हमें यह भी मानकर चलना होगा कि यह स्थिति केवल रचनाओं के संदर्भ में ही लागू नहीं होती वरन समीक्षा के लिए भी-कमोबेश रूप में स्थिति यही है। समीक्षा का नया मुहावरा केवल शब्द भाण्डार का प्रश्न नहीं है, वह रचना के समान सम्पूर्ण बोध से सम्बन्ध रखता है, इसे अच्छी तरह जान लेना होगा। नयी कृतियां नयी ज़मीन खोदती हुई जब नयी भावभंगिमा के साथ प्रस्तुत होती हैं, तब उन्हें व्याख्यायित करने के लिए पुराना

मुहावरा किस प्रकार उपयोगी हो सकता है ? साहित्य की सार्वकालिकता और सार्वजनीनता को लेकर तो निश्चय ही है कि उसके कुछ तत्त्व स्थायी होंगे और सारी तब्दीलियों में भी उनकी अनिवार्यता बनी रहेगी। इसी प्रकार समीक्षा के कुछ ऐसे प्रतिमान हो सकते हैं जिन्हें हर सही समीक्षक काम में लेना चाहेगा, पर उसे समीक्षा की नयी शब्दावली में कहना होगा। प्रेषणीयता का प्रश्न प्रत्येक युग में उठा होगा, क्योंकि जिस जीवन को रचनाकार व्यंजित करता है, वह पाठक तक पहुंचते-पहुंचते कई भूमियों से पार होता है। स्वयं रचनाकार के मन में संशय उठ सकता है कि जो कुछ वह कहना चाहता है, क्या उसे वह संपूर्ण अभिव्यक्ति दे सका है ? और क्या उसकी बात पाठक तक उसी रूप में पहुंच रही है ? जिसे कभी साधारणीकरण कहा गया था, वह एक निश्चित अर्थ का वाहक है और लगभग स्थिर हो गया है। आज हम इसे प्रेषणीयता अथवा रचना के सामाजीकरण की समस्या कहकर सम्बोधित करते हैं, और संभव है भविष्य में ये शब्द भी अपर्याप्त हों। इस प्रकार नये मुहावरे की तलाश होती है।

समीक्षा के प्रतिमानों को जीवन-संदर्भ में निर्मित करने का कार्य उतना सरल नहीं होता जितना प्रायः समझ लिया जाता है। रचना में अनेक विजातीय और साहित्येतर तत्त्व रचनाकार की सृजनशीलता की सामर्थ्य से समन्वित होकर अपनी पृथक सत्ता खो देते हैं, उनका समीकरण अथवा विलयन हो जाता है। जब रचना हमारे समक्ष प्रस्तुत होती है तो हमें उन साहित्येतर तत्त्वों का अधिक एहसास नहीं हो पाता, क्योंकि वस्तुएं पचकर हम तक पहुंचती हैं। इसी प्रकार जब समीक्षक रचना के विश्लेषण में प्रयुक्त होता है तब उसकी वैयक्तिक रुचियां हो सकती हैं जो उसे किसी विशेष दिशा में ले जाना चाहें। समीक्षक का एक सामाजिक परिवेश होता है, जिससे उसकी दृष्टि निर्मित होती है और वह भी मूल्यांकन को प्रभावित करती है। पर इन सबके ऊपर युग के अपने दबाव भी होते हैं जिनके परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन की दिशा के बदल जाने का खतरा रहता है। कोई कृति किसी क्षण विशेष में महत्त्वपूर्ण मानी जा सकती है पर अकालकवलित भी हो सकती है। अंत में रचना की अपनी सामर्थ्य होती है जो किसी भी समीक्षक को पराजित करने में सुख मानती है। रचना के समान समीक्षा की भी एक संपूर्ण यात्रा होती है जिसकी प्रक्रिया संश्लिष्ट है। वैयक्तिक रुचि-बोध, सामाजिक प्रतिबद्धता, युग की दिशा और रचना की शक्ति—सब मिलकर समीक्षा को अपनी-अपनी ओर खींचना चाहते हैं। इस रस्साकशी में समीक्षक के तटस्थ व्यक्तित्व की वास्तविक परीक्षा होती है और इसमें उसकी विजय इस तथ्य पर निर्भर करती है कि वह अपनी समीक्षा में कितनी सृजनशक्ति लेकर आया है क्योंकि अनेक प्रकार के दबावों में यह उसका रक्षा-कवच है। साहित्य और विचारणा के इतिहास में ऐसे क्षण आते हैं जब कोई रचना अथवा उसे केन्द्र में

रखकर चलने वाले आन्दोलन समस्त वातावरण पर छा जाते हैं। पर ऐसे अवसर पर भी कोई जागरूक समीक्षक हो सकता है जो तटस्थता के साथ स्थिति पर विचार करे और यह मन्तव्य दे कि प्रवाह की दिशा अनुकरणीय नहीं कही जा सकती। शर्त है कि समीक्षा में 'स्व' का प्रक्षेपण अधिक न हो जाय और समीक्षक अपनी सामाजिक प्रतिबद्धता के बावजूद दृष्टि को अतिरिक्त आच्छादित न कर दे। सबसे बड़ी चुनौती का सामना तो उस समय उपस्थित होता है जब श्रेष्ठ कृतियां किसी समीक्षक को ललकारती हैं कि आओ, मुझसे बातें करो। रचना और समीक्षा में इस अवसर पर विलक्षण द्वंद्व का क्षण उपस्थित होता है और हमें ज्ञात है कि रचना की शक्ति जितनी अधिक होगी, समीक्षक से उतनी ही सामर्थ्य की मांग वह करेगी। साधारण आलोचनाएं तो ऊपर-ऊपर तैरकर रह जाती हैं, पर श्रेष्ठ समीक्षाएं महान् रचनाओं के साथ दूर तक संतरित होती हैं। काव्य के क्षेत्र में ऐसे कई उदाहरण प्राप्त होंगे जब व्याख्या-विवेचन को लेकर विरोधी वक्तव्य दिए गए हैं, और वैचारिक संघर्ष तक हुआ है। पर ऐसे अवसर पर भी जागरूक समीक्षा ध्रुवों और सीमान्तों को छोड़कर अपने ईमानदार विवेक के सहारे रचना के उचित मूल्यांकन में अग्रसर होती है। समीक्षा की सृजनात्मक शक्ति रचना को मूर्तिभंजक के रूप में नहीं देखती, वह उस पर सकारात्मक दृष्टि डालती है। इसी प्रकार श्रेष्ठ से श्रेष्ठ कृति उसे इतना अभिभूत नहीं कर देती कि वह प्रभाववादी समीक्षक बनकर रह जाय। इलियट मिल्टन जैसे स्थापित कवियों को ललकार सकते हैं और हिन्दी की नयी कविता छन्दों की तलाश के लिए पूर्वजों के पास जा सकती है।

सृजन के समान समीक्षा की यात्रा और उसकी प्रक्रिया तथा तंत्र को पहचान पाना आसान नहीं होता। समीक्षा सर्वप्रथम किसी कृति अथवा विचारणा में प्रवेश करती है, यह उसके साक्षात्कार का क्षण है। यहां समीक्षक की यातना दुहरी है : एक ओर उसे संवेदन और सहानुभूति के साथ कृति में प्रवेश करना है, दूसरी ओर यात्रा के क्षणों में उसे जागरूक रहना है कि उसके पूर्वाग्रह उसकी दृष्टि धुंधली न कर डालें अथवा कृति की सामर्थ्य उसे पूर्णतया पराजित न कर दे। समीक्षा का प्रथम चरण यदि प्रवेश का है, तो दूसरे ही चरण में उसका संघर्ष क्षण आ उपस्थित होता है, क्योंकि रचनाकार के समान समीक्षक के पास अपनी प्रतिक्रियाओं को दीर्घकाल तक संकलित कर रखने की सुविधा नहीं होती। रचना और समीक्षा के इस संघर्ष में समीक्षक की सृजनशीलता की विजय पर ही कृति के मूल्यांकन का बनना-बिगड़ना निर्भर करता है। समीक्षा का तीसरा क्षण उसकी अभिव्यक्ति का समय है, जब समीक्षक को ठीक-ठीक मुहावरे की तलाश करने के साथ-साथ कृति के भीतर से अपने प्रतिमान भी प्राप्त करने होते हैं। इस कार्य में सफलता के लिए समीक्षक में विकासमान व्यक्तित्व का होना आवश्यक

है, अन्यथा उसमें गतिरोध आ जायेगा। वह पुरानी कृतियों को न तो नये सन्दर्भ में व्याख्यायित कर सकेगा और न नयी रचनाओं के साथ संबद्ध हो पाएगा। समीक्षा का अन्तिम चरण वह है जहां समीक्षक जानता है कि कृतियों के सामने एक विशाल पाठक समुदाय है और इस प्रकार उसका एक सामाजिक-सांस्कृतिक दायित्व भी है। साहित्यकार भले समीक्षा का मोहताज न रहकर, पाठक-समाज से सीधे संवाद करना सीख ले तथा स्वयं उसे संबोधित करे और इसी प्रकार पाठक बिना समीक्षा के आश्रय के, सीधे ही कृतियों में प्रवेश करे, पर आस्वाद के धरातल के निर्माण का दायित्वपूर्ण कर्म तो समीक्षक द्वारा ही संभव है और इस दृष्टि से वह 'सर्वाधिक जागरूक पाठक' है। पाठक कृति में डूबता-उतराता है, पर वह उन कारणों पर समुचित प्रकाश नहीं डाल सकता जिन्होंने उसे कृति के प्रति अनुराग-विराग दिया है। पर समीक्षक जानता है कि कृति की उपलब्धियां और सीमाएं क्या हैं ? इस प्रकार वह रचना और समाज के मध्य एक 'विवेकशील सेतु' का भी कार्य कर सकता है। योरप में जब-जब अधिनायकतंत्र विशेषतया फासिज्म ने अपना सिर उठाया है, वहां के जागृत बुद्धिजीवी विचारकों ने जनता को सावधान किया है। साहित्य और विचारों के क्षेत्र में समीक्षा की आवश्यकता रुचि के परिष्कार तथा आस्वाद के वातावरण-निर्माण में सदैव रही है और रहेगी।

समीक्षा और सृजन को अलग-अलग क्षेत्रों में बांटकर देखने से दोनों का अहित हुआ। स्थिति उतनी भयावह हो गई कि लेखकों की पारस्परिक भाई-चारे की समितियां बन गयीं और हमें ध्रुवी अथवा सीमान्ती समीक्षा के दृश्य दिखाई देने लगे। बेचारा प्रबुद्ध पाठक तक परेशान हो गया कि आखिर वह किस प्रमाण-पत्र को स्वीकार करे और उसने आजिज आकर, समीक्षा को बलाए-ताख रखकर, रचनाओं से स्वयं संपर्क स्थापित कर, सीधे उनसे बातचीत की। पर रचना के क्षेत्र में अराजकता खतरनाक होती है, इससे गलत कृतियों को प्रश्रय मिलता है, नारेबाजी बढ़ती है और श्रेष्ठ लेखन निरुत्साहित होता है। रचना के महाभारत में पाण्डवों की विजय, मूल्यों की स्थापना के लिए आवश्यक है और समीक्षा के चक्रपाणि को इस नैतिक दायित्व का निर्वाह करना ही चाहिए। हां, समीक्षक को इस ओर भी दृष्टि डालनी होगी कि क्या पाण्डव पूर्णतया निर्दोष हैं ? लॉन्जाइनस जब संकेत करते हैं कि श्रेष्ठ से श्रेष्ठ कृति में भी 'छिद्र' छूट जाते हैं तब वे समीक्षक को तटस्थ रहने का संकेत करते हैं। रचनाकार किसी बिंदु पर स्वयं अपना समीक्षक है और इसके सहारे वह सामग्री का विवेकपूर्ण संचयन करता हुआ श्रेष्ठ सार्थक कृति का निर्माण करता है। पर समीक्षा का यह एक पक्ष है। अन्य रूप में समीक्षक एक विवेक-सम्पन्न प्रबुद्ध पाठक है जो पूरी तैयारी के साथ इस क्षेत्र में उतरता है और रचना की चुनौती का सामना करता है। यदि समीक्षा को अपनी

सार्थकता जीवित रखनी है तो उसे विस्तृत आयामों से जुड़ना होगा क्योंकि जीवन की बढ़ती हुई जटिलताओं में शुद्ध साहित्य नाम की वस्तु निरर्थक हो गई है। सारी तैयारी के बावजूद उसे पाण्डित्य-प्रदर्शन से बचना होगा ताकि समीक्षा इतनी गरिष्ठ न हो जाये कि उसके पाचन में भी कठिनाई हो। समीक्षा में जितनी सृजनात्मक सामर्थ्य जन्माई जा सकेगी, उसकी सार्थकता उतनी ही अधिक होगी। सृजन और समीक्षा की 'डाइलेक्टिक्स' की सही पहचान ज़रूरी है।

आलोचना की सामाजिकता

रचना और आलोचना को अलग-अलग टुकड़ों में बांटकर देखने की कोशिश की जाती रही है। इस प्रकार का कृत्रिम विभाजन सबसे अधिक हानि पूरी रचनाशीलता को ही पहुंचाता है—सर्जन और आलोचना दोनों को। सचाई तो यह है कि सर्जन और समीक्षा की सही टकराहट से दोनों की रचनाशीलता गति पाती है और उन्हें एक सार्थक दिशा मिलती है। पर हिन्दी आलोचना पर्याप्त समय तक जिन दो कटघरों में अलग-अलग कैद कर दी गई, उनमें प्रायः संवाद की गुंजायश कम थी। नयी रचनाशीलता ने इस अलगाव को तोड़ा और हिन्दी सर्जनशीलता को नयी सक्रियता दी।

सवाल का एक दूसरा पक्ष भी है कि कई बार समीक्षा या आलोचना की लक्ष्मणरेखा बना दी जाती है और उसे साहित्य तक सीमित कर दिया जाता है। तो क्या रचना अथवा आलोचना कोई निरपेक्ष, वायवी सत्य है? रचना जीवन से सीधे साक्षात्कार का नाम है तो फिर जो आलोचना उससे पहचान करना चाहती है—वह जीवन-निरपेक्ष होकर अपना दायित्व ईमानदारी से कैसे निभा सकती है? समीक्षा विचार, अनुभव, स्थिति, प्रयोजन की भी हो सकती है, जो रचना में प्रवेश करते समय अपनी पृथक सत्ता खो देते हैं ताकि रचना रूपायित होकर एक समन्वित, प्रभावशाली आकृति पा जाये। हिन्दी आलोचना के दुर्बल क्षण वे रहे हैं जब उसने स्वयं को जीवन और समाज-सापेक्ष बनाने से इनकार कर दिया। ऐसे निगतिपूर्ण क्षणों में वह कारीगरी और पच्चीकारी की तलाश का काम करने लगी। इससे रचना की सही पहचान कठिन हो गई और आलोचना अपने सामाजिक दायित्व में चूक गई।

आलोचना उसी तरह नितांत वैयक्तिक प्रतिक्रिया नहीं है, जैसे रचना, क्योंकि ऐसा होने पर एक अराजक स्थिति उत्पन्न होगी और हुई भी है—सबके अपने खेमे और झंडे, यहां तक कि अपने-अपने गिरोह भी। ऐसे अवसरों पर सीमांती अथवा ध्रुवी आलोचना पनपती है कि एक ओर हम तर्करहित भाषा में फतवा देते

हैं कि यह अच्छा और वह बुरा दूसरी ओर हम अपने पूर्वाग्रह को पुष्ट करने के लिए 'कुतर्क' भी जुटा लेते हैं। आलोचना में नितांत वैयक्तिक रुचियों को प्रतिमानों के बनाने-बिगाड़ने का काम नहीं सौंपा जा सकता, क्योंकि तब ऐसे भी आलोचक मिलेंगे जो कहेंगे कि कालिदास भी कोई कवि हैं और उस पर मल्लिनाथ की टीका ! यहीं पर समीक्षा के सामाजिक दायित्व की बात उठती है।

आलोचना शुद्ध साहित्य की पैरोकार नहीं बन सकती क्योंकि रचना सामाजिक दवावों में बनती-बिगड़ती है। हम स्वीकारते हैं कि ये दबाव रचना को इस यांत्रिक ढंग से प्रभावित नहीं करते कि रचनाशीलता थोक रूप में दिखाई देने लगे। पर इतिहास की विपरीत दिशा में जानेवाली रचनाएं जल्दी ही अपनी प्रासंगिकता खो देती हैं और उनका नामलेवा तलाशने में कठिनाई होती है। प्रश्न है कि आखिर सामाजिक दबावों में आलोचना कैसे रूपायित होती है? यह मसला वैयक्तिक रुचियों अथवा निजी आस्वाद का नहीं है जो सामन्ती ज़माने की देन है, बल्कि रचना के साथ आलोचना की भी नागरिकता अथवा सामाजिकता का है। समाज की परतों के साथ संस्कार और रुचियां बदलती हैं और रचना के नये तेवर उन्हें आत्मसात करने की भरपूर कोशिश करते हैं। इसकी अच्छी मिसाल उन रचनाकारों में देखने को मिल सकती है जो इतिहास के कई उतार-चढ़ावों से गुज़रते हैं, समाज की कई करवटों से उनकी भेंट होती है अथवा उन रचनाओं में, जो निरन्तर विकासमान प्रक्रिया को आत्मसात करने का माद्दा रखती हैं।

सामाजिक दबावों के आत्मसात का अर्थ दल-बदल नहीं है, तब तो 'छद्म' के घुस आने का खतरा बराबर मौजूद रहेगा। रचना, आलोचना के इतिहास में ऐसा हुआ भी है, जब अपने पाप का प्रायश्चित करने के लिए कई नक्काल नये खेमें में घुसपैठ करने लगते हैं। बिरादरी बढ़ाने के लालच से इन दलबदलुओं पर कोई रोकथाम नहीं लगाई जाती और नतीजा यह होता है कि ये नक्काल किसी सही रचना-आन्दोलन को लाभ कम, हानि अधिक पहुंचाते हैं। यहां तक कि नकली माल इतना बढ़ जाता है कि सही चीज बाहर हो जाती है। मैं एक उदाहरण दूंगा। कई क्षयी रोमांस के गीतकार सहसा नयी सामाजिक चेतना के शिविर में घुसने की कोशिश करने लगे, उन्होंने लाल दुपट्टे को लाल झण्डे में तबदील कर लिया। अपने माल की खपत का यह चालाक तरीका था, पर इससे सच्ची प्रगतिशीलता को हानि पहुंची। अच्छा यह हुआ कि ऐसे रचनाकारों की सामाजिक चेतना मुखौटे के तौर पर थी—बाहर से लबादे की तरह ओढ़ी हुई, वह उनकी चेतना का हिस्सा नहीं थी, इसीलिए वे कुछ उल्टी-सीधी उक्तियां देकर जल्दी ही अपनी एकांत दुनिया में लौट गए। आज भी घुसपैठ की ऐसी ही कोशिश हो सकती है जिसे सही आलोचना बेनकाब कर सकती है, बशर्ते वह स्वयं भी ठीक ज़मीन पर हो।

आलोचना रचना से जिस सामाजिकता की मांग करती है, वह यदि स्वयं उसमें ही अनुपस्थित हो तब तो ऐसा ही होगा कि नशे में धुत् हम मद्यनिषेध पर अनाप-शनाप बक रहे हैं। जब सामाजिक दबाव सर्जन को रूपायित करने लगते हैं तब उनका यह अर्थ नहीं कि रचना घुटने टेककर समर्पण कर देती है। इसका आशय यही कि आलोचना तथा सामाजिक दबावों में एक सार्थक टकराहट होती है, जहां सामाजिकता उसे प्रभावित करना चाहती है। अब यह आलोचना की अपनी शक्ति पर निर्भर करता है कि वह उसे किस रूप में ग्रहण करती है। आलोचना यदि अपनी सामाजिक-सांस्कृतिक जिम्मेदारी सही ढंग से पहचानती है तो वह इन दबावों को तत्काल स्वीकार नहीं कर लेती। वह पहले उसे ललकारती है, उसका जायजा लेती है तब कहीं उसके जीवन्त तत्त्वों को स्वीकारती है। इसीलिए सही समीक्षा एक सामाजिक सरोकार भी है, सांस्कृतिक जिम्मेदारी के पूरे एहसास के साथ। यहां निश्चित ही आलोचना को अकादमिक, शास्त्रीय घेरे से बाहर निकालकर अधिक खुली ज़मीन पर लाने की बात कही जा रही है।

आलोचना में समाजशीलता की मांग उतनी ही जायज है जितनी कि रचना में। कई बार ऐसा हुआ कि आलोचना ने जीवन और रचना दोनों के बाहर खड़े होकर मसीहाई मुद्रा में फ़तवा दे दिया, फैसला सुना दिया और आग्रह किया कि इसे अन्तिम मान लिया जाए। धर्म के मध्यकालीन परिवेश में व्याप्त मठाधीशत्व और पौरोहित्य का यह साहित्यिक संस्करण रचना के लिए घातक सिद्ध हुआ। इससे रचना और आलोचना की दूरी बढ़ती गई और रचनाशीलता का क्षरण भी होने लगा। अपनी सर्जनशीलता की रक्षा के लिए, आलोचना की हाथीदांत की मीनारोंवाली आवाज को रचनाकारों ने चुनौती दी; वे स्वयं अपनी रचना के व्याख्याता बने, जिसे 'कवि की आत्मरक्षा' अथवा 'पोयट्स डिफेन्स' कहा जाता है। स्वाभाविक है कि शुरू-शुरू में यह स्वर अधिक भावात्मक था, पर आधुनिकता के पनपने के साथ उसने तर्क की भाषा अर्जित की और नये लेखन में अधिकांश हस्ताक्षर ऐसे हैं जो रचना-समीक्षा के समन्वित व्यक्तित्व का परिचय देते हैं। पर यह केवल विधाओं का प्रश्न नहीं है। वे अपने ही भावक्षेत्र, संवेदनजगत और विचारबिन्दु पर आलोचनात्मक दृष्टि डालकर, उसे तर्कसंगत निष्पत्ति देते हैं और आलोचना में उसकी रचनात्मक क्षमता सक्रिय रहती है ताकि वह इतनी गरिष्ठ न हो जाए कि उसे पचाना भी कठिन हो। पण्डिताई के प्रति, यह सर्जनात्मक आलोचना का विद्रोह है कि वह एक विशेष सामाजिक सन्दर्भ में गढ़े गए, बने-बनाए नुस्खों, अप्रासंगिक प्रतिमानों को, नयी रचना के लिए दुहराए जाने का विरोध करती है।

सर्जनात्मक आलोचना सामाजिक सरोकार और सही समझ से उपजती है और वह अपने पाठक को सीधे ही सम्बोधित कर सकने की सामर्थ्य रखती है। इस

दृष्टि से एक दायित्वपूर्ण आलोचक रचना और पाठक के बीच सही संवाद की शुरुआत करता है और इस प्रकार रचना की सामाजिकता को प्रचार-प्रसार देता है। गलत हाथों में पड़कर रचना की जो दुर्दशा होती है, उसके बहुतेरे प्रमाण आलोचना के इतिहास से तलाशे जा सकते हैं जैसे पहले यह मान लेना कि मिल्टानिक सॉनेट, शेक्सपिरियन सॉनेट से बेहतर होती है और फिर सॉनेट की समीक्षा करना। मेरे विचार से आलोचना की सामाजिक जिम्मेदारी है--सार्थक रचनाशीलता को उजागर करना, पाठक तक उसे ठीक सन्दर्भ में पहुंचाना और रचनाशीलता के लिए सही परिवेश बनाना और यदि रचना कहीं लड़खड़ाए तो उसे ठीक दिशा देने की कोशिश करना। यह तभी संभव है जब आलोचना और रचना में बराबर सार्थक संवाद की प्रक्रिया चलती रही, दोनों अपने नागरिक सामाजिक दायित्व को समझकर सक्रिय हों।

कई बार निषेध और खंडन जरूरी होते हैं और महत्त्वपूर्ण यात्राओं की शुरुआत 'संशय' से होती है, हुई भी है, पर वह रचना/आलोचना का गंतव्य नहीं हो सकता। हम गिराते हैं, बनाने के लिए, केवल मिटाने के लिए नहीं। इसलिए आलोचना केवल निषेध पर नहीं जी सकती। उसे यह भी संकेत करना होगा कि यदि रचना में कहीं कोई कमी है तो वह क्या है और उसे दूर कैसे किया जा सकता है। ऐसा करते हुए आलोचक को भी स्वयं में रचनाशीलता जन्मानी होगी, नहीं तो वह मार-काट करके अपने काम की इतिश्री समझ लेने की भूल कर सकता है। यह तभी संभव है जब आलोचना सही सामाजिक समझ से उपजी हो, केवल पुस्तकों की दुनिया से नहीं। आलोचना जब जीवन-सन्दर्भों को सामने रखकर रचना से साक्षात्कार करती है, तभी उसकी सार्थकता है और ऐसी ही आलोचनाएं रचना के इतिहास को, विचारों की दुनिया को नये मोड़ दे दिया करती हैं। फासीवाद के विरोध में सार्थक रचनाशीलता ने अपना सामाजिक-सांस्कृतिक दायित्व निभाया था, भले ही उसे भारी मूल्य चुकाना पड़ा। हंगरी की मुक्ति की तीसवीं जयंती के अवसर पर प्रकाशित विशेषांक में इस्तेवानवास की कविता प्रकाशित हुई है जो 1951 में रची गई थी, उसकी पंक्तियां हैं —

> आज का इतिहास साफ झलकता है
> सारी चीज़ें एक अर्थ पा जाती हैं
> और हम यकीन करते हैं कि आतंक और
> उसके सारे कारक
> हमेशा-हमेशा के लिए खत्म कर दिए गए हैं।

आलोचना इस सीमा तक तटस्थ नहीं रह सकती कि रचना-प्रवाह जिस भी दिशा में जाता है, जाए। यह एक प्रकार से अपने दायित्व से पलायन है। जब रचना अपनी सही सामाजिक भूमि से कट गई हो अथवा अतिवादी छोरों पर

जाकर लगभग अराजक स्थिति उत्पन्न कर रही हो, शिविरों में बंट गई हो और चन्दरोज़ा आन्दोलन नये 'वादों' का नारा लेकर रचना को उसकी सही यात्रा से हटाकर, पथभ्रष्ट करने की कोशिश में हों, तब आलोचना की तटस्थता का मतलब है, सार्थक सामाजिक रचना की पराजय और प्रकारांतर से समाज में भी ग़लत तत्त्वों का हावी हो जाना, ख़ासतौर पर जबकि अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए प्रचारतंत्र पर अधिकार करने की जी-तोड़ चेष्टा करने वाली प्रतिक्रियावादी शक्तियां सक्रिय हों। ऐसी अराजक स्थिति में आलोचना का सही रचनात्मक हस्तक्षेप ज़रूरी है, अपना सामाजिक दायित्व निभाने के लिए और रचनाशीलता को सार्थक दिशा देने के लिए ।

साहित्य इसी अर्थ में एक सामाजिक कार्य है, वैयक्तिक धंधा नहीं कि यहां रचना/आलोचना सभी एक सामाजिकता/नागरिकता से बंधकर ही सार्थकता पाते हैं। यदि आप स्वयं से बातचीत कर रहे हैं, पगुरा रहे हैं और सामने की बड़ी दुनिया रचना में अनुपस्थित है तो पाठक, श्रोता, दर्शक को पूरा अधिकार है कि वे उससे मुंह मोड़ लें, उसे नकार दें। प्रेषणीयता की जो समस्या कई बार अकादमिक ढंग से उठाई जाती है, वह केवल भाषा अथवा अभिव्यक्ति का प्रश्न नहीं है, यह सबसे पहले उस मूल प्रस्थानबिन्दु से जुड़ा है जहां से कोई रचना अपनी यात्रा का आरंभ करती है। वह किस ज़मीन पर खड़ी है, उसमें कौन-सी दुनिया शामिल है और उसका गन्तव्य क्या है ? पर यह सवाल सस्ती लोकप्रियता के स्तर पर सुलझाया नहीं जा सकता और न यह कहकर ही यथार्थ से पलायन किया जा सकता है कि हम नया अनुभव-संसार जन्मा रहे हैं, उसके लिए नया मुहावरा तलाशना है, पाठक का संवेदन अभी पुराना है, इसीलिए उसको बेपहचान लगता है। साहित्य में यह एक प्रकार का निश्चित आत्मछल है और किसी भी बहाने से इसे प्रश्रय देना रचना की सामाजिकता को दुर्बल करना है। जो लोग सामन्ती समाज के ढंग पर कहते आए हैं कि सांस्कृतिक मसलों की ठेकेदारी गिने-चुने लोग ही कर सकते हैं, वे बड़े जीवनप्रवाह की साझेदारी से इन्कार करते हैं और यह गैर-सामाजिक रुख है।

हिन्दी आलोचना का सबसे रोचक दौर वह है जब राजनीतिक दबावों में, वह एक अजीब शीतयुद्ध का शिकार हुई और प्रयोगों की आड़ में रचना के जीवन्त प्रवाह को एक ग़लत दिशा देने की कोशिश की गई। दायित्वहीन निजी आज़ादी के नाम पर जो मायाजाल रचा जा रहा था, वह अपने सामाजिक परिवेश से बिलकुल अलग-थलग पड़ गया। इसीलिए आलोचकों की नयी पीढ़ी ने उसे अस्वीकार कर दिया। कितना आश्चर्यजनक है कि एक ओर शताब्दियों बाद देश में प्रजातंत्र का सूर्योदय हो रहा था, दूसरी ओर रचना में विलक्षण प्रयोगों की बाढ़-सी आ गई थी और आलोचना उसे वैयक्तिक प्रयोग के नाम पर बढ़ावा देने

को तैयार थी। खूबसूरत फ़रेबी नारों के बीच रचना का सत्य छिपा देने में गैर-जिम्मेदार आलोचना कितनी माहिर होती है, यह इसका प्रमाण है।

सर्जनात्मक विद्रोह रचनाशीलता को गति देते हैं और साहित्य के इतिहास में सामाजिक दबावों का निषेध करने वाली रचना असूर्यम्पश्या की तरह लुभावनी हो सकती है, पर व्यापक स्तर पर बहुत उपयोगी नहीं। रचना के सौन्दर्य की सही पहचान सामाजिक भूमि पर होनी चाहिए और उसके विवेचन-विश्लेषण के समय आलोचना इस सामाजिकता को उजागर करती है। इससे वह परिवेश निर्मित होता है जब सार्थक, प्रयोजनशील रचनाएं आलोचना का सहारा पाकर वृहत्तर पाठक-समुदाय तक पहुंचती हैं। कई बार ऐसा हुआ है कि शास्त्रीय आलोचना और पण्डिताई से आजिज़ आकर रचना ने पाठकों को सीधे ही सम्बोधित किया और आलोचक की अनिवार्यता के आगे ही प्रश्नचिह्न लगा दिया। पर रचना और आलोचना में संवाद न होने से भी इस प्रकार की स्थिति उपजती है, अन्यथा वे एक-दूसरे को आगे बढ़ाती हैं।

आलोचना के सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण बात यह कि वह किस भूमि पर खड़ी होकर रचना से साक्षात्कार कर रही है और किन लोगों तक उसे पहुंचाना चाहती है। क्योंकि निश्चय ही आलोचना नितान्त वैयक्तिक आस्वाद नहीं है और सही परिवेश निर्मित करने का दायित्व भी उसे निभाना है जिसमें रचनाओं की ठीक पहचान पाठकों तक पहुंचती है। यह आलोचना की सामाजिकता है और यहीं उसके उस मुहावरे का सवाल उठता है जिसके माध्यम से बात कहनी है। कई बार गलत प्रतिमानों के कारण सही रचनाएं भी अपनी अर्थवत्ता आलोचना के द्वारा स्पष्ट नहीं कर पातीं और इसके विपरीत साधारण रचना प्रश्रय पा जाती है।

रचना का मुहावरा, काव्यभाषा आदि पर हिन्दी में इतना ज़ोर दिया गया कि आलोचना के मुहावरे की ओर हम पूरा ध्यान नहीं दे पाए। पुरातनपंथियों के काफ़ी दिनों तक हिन्दी आलोचना पर हावी रहने के कारण वह शास्त्र के शिकंजे से काफी विलंब से मुक्त हो सकी, जबकि नयी रचनाशीलता ने रचना और आलोचना के द्वैत को तोड़कर एक नया परिवेश बनाया। यहां हम संकेत करना चाहेंगे कि कई बार आलोचना नपी-तुली सोची-समझी तो लगती है, पर बहुत सर्द, ठंडी, लगभग निस्पंद, निर्जीव, निष्प्राण। ज़ाहिर है कि ऐसी आलोचना की कोई वचनबद्धता-प्रतिबद्धता नहीं है और वह अपने दायित्व से पलायन करना चाहती है। ऐसी ही पलायनवादी समीक्षा बहुत जल्दी दल-बदल करके, जब चाहती है।जिस खेमे में घुसपैठ करने लगती है और रचना की सही पहचान में बाधा बनती है। अनिर्णय और असमंजस रचनाशीलता के शत्रु हैं और किसी मूल्य पर, उन्हें प्रश्रय देने को उचित नहीं ठहराया जा सकता। अपना असमंजस तोड़कर ही आलोचना सही दायित्व निभा सकती है और फिर उसे उस मुहावरे की तलाश करनी होगी जिसके

द्वारा अपनी बात कहनी है। प्रतिमानों पर सामाजिक दबाव अपना प्रभाव डालते हैं, पर यह प्रश्न राजनीति की तात्कालिक जोड़-तोड़ का न होकर, अधिक गहरे सामाजिक सन्दर्भों का है। राजनीति एक घटनाचक्र है जो कभी-कभी विचित्र ढंग से भी मोड़ लेता दिखाई दे सकता है। पर इतिहास और समाज की परतें गहरी होती हैं जिन्हें उघारे बिना, उनके वास्तविक यथार्थ से ठीक साक्षात्कार नहीं हो पाता और आलोचना को इसीलिए गहरे जाकर जांच-पड़ताल करनी पड़ती है, सामाजिक परिवेश की।

रचना की तरह आलोचना भी सामाजिक दबावों से गुज़रती है, पर वह प्रवाह में बेरोक-टोक नहीं बह सकती, अन्यथा अपना दायित्व ठीक से नहीं निभा सकेगी। अराजकता और अतिवाद से जूझते हुए आलोचना रचना-जगत में एक नया सन्तुलन लाने का महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकती है और उसे ऐसे मुहावरे में अपनी बात कहनी होगी कि जिन्हें हम सम्बोधित करना चाहते हैं, उन तक वह पहुंच सके। पण्डिताई, चमत्कार, शास्त्र, कारीगरी, कलाबाजी, आतंक, बड़बोलापन आदि की मुद्राओं से पाठक को आतंकित कर अपना रास्ता बनाने की कोशिश सर्जनशील, दायित्वपूर्ण आलोचना कभी नहीं करना चाहेगी। जब हम केवल साहित्य तक आलोचना को सीमित कर देने की भूल करते हैं तब धीरे-धीरे एक जड़ शास्त्र का ताना-बाना बुना जाने लगता है और आलोचना की वह जीवन्तता खतरे में पड़ जाती है, जो विचारों को चुनौती देती है, शास्त्र को ललकारती है और अपने युग की रचनाशीलता के लिए सही प्रतिमान और ठीक मुहावरा तलाशती है। यही आलोचना की सही सामाजिकता है जो सार्थक रचनाशीलता को विकसित करने का दायित्व निभाती है।

सही भूमि पर खड़ी होकर आलोचना बेमुरौवत होती है और बिना किसी असमंजस के अपनी बात कह सकती है। पर ऐसा करते हुए वह तर्क की भाषा अपनाती है और यहीं प्रवाह में बहने वाले साधारण पाठक और विवेकशील आलोचना का अन्तर स्पष्ट होता है। आलोचना में इतनी सामर्थ्य होती है कि वह रचना में नये अर्थ उजागर कर सके, उसके संदर्भ पहचान ले और इतना ही नहीं, पुरानी कालजयी कृतियों में नयी प्रासंगिकता तलाश सके। रचना की चालाकी, उसका छद्म आलोचना की पकड़ में आ ही जाते हैं और वह उन्हें बेनकाब करती है। शर्त यह कि आलोचना अपने ही अन्तर्विरोधों का शिकार न हो जाए और अपनी सामाजिकता का एहसास उसे बराबर बना रहे। भारतीय सामाजिक ढांचे में अतिभावुकता के लिए जो गुंजाइश रही है, कई बार उसके कारण हम विचारों की दुनिया को चुनौती देने में तर्क की भाषा का ठीक उपयोग नहीं कर पाते और हमारी बात कमजोर पड़ जाती है। नतीजा यह होता है कि फैशन के नाम पर जो चला दिया गया उसमें सब चल पड़ते हैं और रचनाशीलता

लड़खड़ा जाती है। लगता है जैसे इतिहास ही भटक गया हो और ऐसे में आलोचना की सामाजिक सक्रियता की आवश्यकता होती है ताकि रचना सही राह पर चल सके।

आलोचना की सही सामाजिकता तभी उपज सकती है जब वह भी जीवन से सीधे साक्षात्कार की शक्ति रखती हो और मात्र पुस्तकीय न हो। उसकी दृष्टि निर्भ्रान्ति और साफ हो और उसमें अपने तर्क को समापन तक पहुंचाने की सामर्थ्य हो, तथा दोटूक भाषा में बात कह सकने का साहस भी। आलोचना की सही सामाजिकता सार्थक रचनाशीलता को जन्माती है और किसी विकसनशील समाज में उसकी आवश्यकता सबसे अधिक हुआ करती है, क्योंकि रचना का सामाजिक-सांस्कृतिक दायित्व है। आलोचना केवल निषेध पर नहीं जी सकती और उसे अपनी सामाजिकता निभाने के लिए हस्तक्षेप तो करना ही होगा पर इतना ही पर्याप्त नहीं है। उसमें उसकी सम्पूर्ण शिरकत होनी चाहिए—रचनात्मक ढंग से और अपने दायित्व के पूरे एहसास के साथ।

समकालीन आलोचना : कुछ प्रश्न

रचना और समीक्षा लगभग एक समानान्तर यात्रा करते हुए देखी जा सकती हैं, यद्यपि यह भी तय है कि सभी समीक्षक समकालीन लेखन से संवाद कर सकने की स्थिति में नहीं होते। शास्त्र और कोरी पण्डिताई के आतंक से वे अपना काम निकालना चाहते हैं। पर समकालीन समीक्षा के संदर्भ में यह विचारणीय है कि समकालीनता के सही इतिहास-बोध के अभाव में वह अपना दायित्व पूरी तरह नहीं निभा पाती। जो समीक्षक समकालीन बोध से किनाराकशी करके निकल जाना चाहते हैं, वे किसी विशेष समय में बनाए गए साहित्यिक प्रतिमानों की दुहाई देते हुए अपना काम चलाना चाहते हैं। पर समकालीन आलोचना का अर्थ यह नहीं है कि वह आज के समय में लिखी जा रही है, पर उसका यह अभिप्रेत भी होना चाहिए कि उसे समकालीनता की पहचान है।

समकालीनता को लेकर बहस हो सकती है, पर एक समय विशेष की धड़कन रचना में प्रक्षेपित होती है और इस दृष्टि से हर युग की अपनी एक ऐसी समकालीनता होती है जिसे हम सार्थक रचनाओं में तलाशते हैं। जो समीक्षा लिखी जा रही है, उसके कई निकाय अथवा वर्ग हो सकते हैं, पर उसमें जितना भी सार्थक है उसे प्रायः समकालीन आलोचना के अन्तर्गत लिया जाता है। पुराने समीक्षकों की वह पीढ़ी है जिसने छायावाद युग में अपना कार्य आरम्भ किया था। छायावाद को जब आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी सम्पूर्ण सहानुभूति देने से इन्कार किया तब इस वर्ग ने हिन्दी रूमानी कविता के विवेचन का महत्त्वपूर्ण कार्य किया और समीक्षकों की एक पूरी पीढ़ी सक्रिय हुई। रचना के क्षेत्र में कई बार क्रियाशील व्यक्तित्व भी एक बिन्दु पर आकर ठहर जाते हैं और आगे का विकास अवरुद्ध हो जाता है। ऐसी स्थिति में कई रचनाओं से जुड़ पाने में वे कठिनाई महसूस करते हैं, कुछ तो इस असमंजस में पलायनवादी हो जाते हैं और नये बोध से साक्षात्कार ही नहीं करना चाहते। वे शाश्वत साहित्य का नारा लगाते हुए पाए जाते हैं और इस प्रकार ऐतिहासिक गतिशीलता को ही नकारते हैं।

अपने पूर्वाग्रहों से बंधकर भी कुछ पुराने समीक्षक नये साहित्य को देखना-समझना चाहते हैं। वे कई बार तीखी टिप्पणियां भी करते पाए जाते हैं पर रचना की सही भूमि उन्हें नहीं मिलती।

समकालीन आलोचना केवल इसलिए यह विशेषण नहीं पा जाती कि वह अपने समय में लिखी जा रही है। मेरा विचार है कि समकालीनता की सही पहचान के बिना आलोचक समकालीन आलोचना में परिगणित नहो सकेगा। समकालीनता का अर्थ है इतिहास के परिप्रेक्ष में अपने समय की सही जानकारी और उन सम्पूर्ण संदर्भों का परिज्ञान जिनसे एक समय विशेष का निर्माण होता है। कलेन्डर बदल जाने भर से समय नहीं बदला करता। इतिहास की गतिशील प्रक्रिया में समाज जिस विशेष विकास की सूचना देता है, उसकी पहचान आवश्यक है। समकालीनता के तत्त्व निरपेक्ष नहीं होते, वे किन्हीं सामाजिक दबावों के स्वाभाविक परिणाम हुआ करते हैं। पहले हम उन सामाजिक कारकों को तलाशते हैं जिन्होंने युग विशेष की प्रवृतियों को रूपायित किया और फिर यह देखना चाहते हैं कि रचना में उनकी अभिव्यक्ति किस प्रकार हुई है। इसीलिए समकालीन आलोचना में पुनर्मूल्यांकन, प्रासंगिकता की तलाश, नवमूल्यांकन, पुनरावलोकन, आदि की चेष्टाएं होती हैं।

समकालीन हिन्दी आलोचना की पहली लड़ाई उस रूमानी दृष्टि से है जो रचनाकार की निजी ज़िन्दगी को रचना में खोजने का आग्रह करती आई हैं। ध्यान देने की बात है कि जब समय का साक्ष्य समाप्त हो जाता है तो रचनाकार की जीवनी के वे ही प्रसंग जीवित रहते हैं जो रचना को सही लक्ष्य की ओर ले जाते हैं या अधिक से अधिक हम लेखक की जीवनी की सहायता से प्रेरणास्रोतों की तलाश कर सकते हैं। नहीं तो रचनाकार की पार्थिव अनुस्थिति के बाद उसकी रचना ही हमारा साक्ष्य बनती है और हम उसी के आधार पर उसका व्यक्तित्व बनाते हैं। यदि जीवनी की कुछ जानदार रेखाएं हमें मिल जायं तो वे उसकी तस्वीर को थोड़ा और रंग-रूप दे देती हैं, बस ! समकालीन आलोचना ने व्यक्ति के बदले उस सामाजिक ज़मीन की पहचान का आग्रह किया जिस पर कोई रचना संस्थित हुआ करती है क्योंकि उसकी मान्यता है कि रचना निरपेक्ष न होकर किन्हीं सामाजिक स्थितियों की उपज होती है। इसे हम 'शुद्धसाहित्य' की धारणा की अस्वीकृति भी कह सकते हैं जिसमें अब तक रचनाकार की विशिष्ट स्थिति पर बल दिया जाता रहा है।

प्रश्न उठता है कि एक ही भूमि पर खड़ी होकर रचना या आलोचना पृथक् दिशाओं में क्यों जाती हैं और यहीं 'जीवनदृष्टि' का वह महत्त्वपूर्ण मुद्दा सामने आता है जिससे समीक्षा परिचालित होती है। समकालीन समीक्षा ने तटस्थता, असंगता के उस मायाजाल को तोड़ने में पहल की जिसे साहित्यिक समीक्षा कहकर

खपाने की कोशिश की जाती रही है। आज की समीक्षा यह मानकर चलती है कि सबसे महत्वपूर्ण है वह ज़मीन, जहां से कोई रचना अपनी शुरुआत करती है। बीसवीं शताब्दी के आरंभिक दौर में देव-बिहारी को कलावाद के आधार पर तौला जाता था और 'नवरत्न' जैसे सामन्ती पद दिए जाते थे। हिन्दी की रूमानी समीक्षा ने कृति को उसके भीतर से जानने-पहचानने की कोशिश की, पर उसकी मानवीय दृष्टि को भी उजागर किया। समकालीन आलोचना को रूमानी तेवरों से लड़ने-झगड़ने में एक विकल्प तलाशना पड़ा और उसने यथार्थवादी दृष्टि का आग्रह किया। यह बात दीगर है कि यथार्थ की बाहरी-भीतरी परतों को लेकर इतनी टकराहट हुई कि उसका मूल स्वरूप ही लड़खड़ाने लगा।

नामों की तफ़सील में जाए बिना कहा जा सकता है कि समकालीन आलोचना ने अपनी दुनिया को विस्तार दिया। उसने स्वीकारा कि आलोचना को केवल साहित्यिक आलोचना तक सीमित कर देने का मतलब है उसके क्षेत्र को संकुचित कर देना और जीवनाधार से उसकी संलग्नता की अस्वीकृति। इसलिए हिन्दी की नयी समीक्षा ने जब उस ज़मीन को पहचानने की पहल की जहां से रचना शुरुआत करती है, तो शुद्ध साहित्य के पक्षधरों ने शिकायत की कि रचना पर साहित्येतर तत्त्व हावी हो रहे हैं। समकालीन आलोचना को अपनी पहली लड़ाई में विजय मिली और आलोचना केवल साहित्यिक मूल्यांकन तक केन्द्रित न रहकर विचारों, जीवन-दृष्टियों, अभिप्रेतों की पहचान में अग्रसर हुई। इससे उसका प्रजातांत्रीकरण हुआ और हिन्दी आलोचकों को एक बेहतर बौद्धिक तैय्यारी के साथ समीक्षा-क्षेत्र में आना पड़ा। समकालीन आलोचना से गुज़रने पर इतिहास, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान आदि अनुशासनों की शब्दावली से भेंट होती है तो इसे आलोचना-जगत के विस्तार रूप में स्वीकारना चाहिए।

समकालीन आलोचना ने रचना और आलोचना के पार्थक्य को तोड़ा, इसे उसकी उपलब्धि कहना होगा। यह द्वैत जहां बढ़ता है और उनमें संवाद की स्थिति कमज़ोर पड़ती है, वहीं इन दोनों को हानि पहुंचती है। इलियट सही संकेत करता है जब वह कहता है कि किसी बिन्दु पर रचनाकार आलोचक भी होता है क्योंकि वह बौद्धिक समीक्षा-दृष्टि से काम लेता है और सही समीक्षा सर्जनात्मक स्तर पर लिखी जाती है। रचना-आलोचना की दूरी पाटने में समकालीन आलोचना ने बौद्धिक पहल की और इससे दोनों को लाभ पहुंचा। रचना में व्यर्थ की भावुकता, भावोच्छ्वास को अस्वीकार कर दिया गया तथा आलोचना शास्त्रीयता, पण्डिताई के आतंक से मुक्त हुई। इसके पूर्व भी छायावादी समय में कवियों ने अपनी बात स्पष्ट करने के लिए समीक्षानुमा-निबंध लिखे थे, पर उनमें 'आत्मरक्षा' का भाव इतना अधिक था कि आलोचना विस्तृत भूमि पर न जा सकी। नयी

समीक्षा इस खतरे से सावधान कि यदि उसे रचना से बिलकुल अलगाकर फतवे भर दिए गए तो यह स्थिति भी आ सकती है कि उसकी उपयोगियता के आगे प्रश्नचिह्न लगा दिए जायं।

विचारभूमि और जीवनदृष्टि के आग्रह ने समकालीन हिन्दी आलोचना को बौद्धिक आधार दिए और व्यर्थ की शास्त्रीयता से मुक्ति की दिशा में यह महत्त्व-पूर्ण पहल थी। रचना को दृष्टि में रखकर जो प्रतिमान निर्मित किए जाते हैं वे स्थिति विशेष की उपज होते हैं और उस समय की मान्यताओं को हर नये क्षण में लागू करना उचित नहीं। सचाई यह कि युग अपने लिए नये मूल्य तलाशना चाहता है और इतिहास, संस्कृति के विकास की यही प्रक्रिया है। नाटक के लिए वस्तु, नेता, रस; काव्य में भाव, विभाव, अनुभाव; कथा में कथानक से उद्देश्य तक के तत्त्व का आग्रह यह समझकर किया जाता रहा है कि जैसे रचना की निश्चित प्रक्रिया है। पर जैसे इतिहास के एक विशेष दौर की अपनी जीवनदृष्टि होती है, उसी प्रकार रचना अपने लिए नये माध्यम भी खोज सकती है। जैसे आज दीर्घाकार महाकाव्यों को अस्वीकृत कर दिया गया है, या वर्णनात्मकता मात्र से काम नहीं चल सकता; यहां तक कि कहानी, उपन्यास तक अधिक संकेतात्मक होते जा रहे हैं। कविता, कथा के माध्यम एक-दूसरे के समीप आए हैं।

जीवनदृष्टि के प्रश्न को लेकर समकालीन आलोचना में जो आग्रह बढ़े, उससे रचना की कलावादी रुझान टूटी और यह माना गया कि रचना केवल समय की उपज ही नहीं होती, उसका सामाजिक सरोकार भी होना चाहिए। थोड़ा और आगे बढ़कर कहा गया कि सामाजिक बदलाव में रचना की भी हिस्सेदारी होती है और उसकी प्रतिबद्धताएं स्पष्ट होनी चाहिए। कलावाद को लेकर जो शास्त्रीय विवाद हुआ था और क्लासिकी-रूमानी टकराहट हुई थी, उसने अब अधिक प्रखर वैचारिक रूप ग्रहण किया और इसे कई रूपों में देखा जा सकता है। एक ओर रचना-रचनाकार की स्वायत्तता का नारा था जिसे व्यक्ति की आजादी से जोड़ दिया गया, दूसरी ओर रचना की सामाजिकता की मांग थी, जिसे कॉडवेल जैसे समीक्षकों ने एक निश्चित प्रयोजन दिया। संसारके शीतयुद्ध का, भारत की आजादी के तुरंत बाद की रचना और समीक्षा पर काफी दबाव देखे जा सकते हैं। एक ओर 'व्यक्ति की स्वतंत्रता' के समर्थक थे, दूसरी ओर 'प्रतिबद्धता' की मांग। बदले परिवेश में यह टकराहट ऊपरी तौर पर उतनी तेज नहीं दिखाई देती जितनी कि कुछ समय पूर्व थी, पर भीतर-भीतर वैचारिक संघर्ष आज भी जारी है। पत्र-पत्रिकाओं की बहसों में इसे देखा जा सकता है। 'आलोचना' के अप्रैल-जून, 1976 अंक में श्रीकांत वर्मा की कविता के सिलसिले में हम दो समीक्षकों की प्रतिक्रियाएं पाते हैं जो एक-दूसरे को लगभग काटती चलती

हैं। यह अन्तर उस जीवनदृष्टि के कारण है जिससे आज की आलोचना रूपायित होती है।

हिन्दी की समकालीन आलोचना में विचारभूमि को लेकर अलग-अलग शिविर हैं और कई बार सीमान्ती समीक्षा के दृष्टान्त भी देखने को मिल सकते हैं, पर अपने मन्तव्य को प्रमाणित करने के लिए समीक्षक प्रमाण जुटाने का यत्न करते हैं। समीक्षा में विचारणा और तर्क का अधिकाधिक प्रवेश उसकी प्रौढ़ता का परिचायक है। इस सिलसिले में समकालीन आलोचना की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि उसका नया मुहावरा है जो उसने आज के संदर्भ में निर्मित किया है। जिस ज़मीन पर रचना की जा रही है, उसे सही अभिव्यक्ति दे सकने के लिए जिस प्रकार नये शिल्प की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार आलोचना को भी अपने समय की रचना के साथ न्याय कर सकने के लिए एक नया मुहावरा तलाशना पड़ता है। हिन्दी आलोचना पर संस्कृत साहित्यशास्त्र और पाश्चात्य समीक्षा के जो गहरे दबाव रहे हैं, उसके कारण काफी समय तक हिन्दी समीक्षा का स्वतंत्र व्यक्तित्व निर्मित नहीं हो सका। इस दृष्टि से मुक्तिबोध समकालीन आलोचना को उसका व्यक्तित्व दिलाने की कोशिश करने वाले महत्त्वपूर्ण रचनाकार और समीक्षक हैं।

मुक्तिबोध ने समकालीन आलोचना को एक नया मोड़ दिया। उन्होंने उसे जीवन के वृहत्तर संदर्भों से जोड़ा और उससे रचना जैसी संवेदनशीलता की मांग की। इस सिलसिले में उनके संवेदनात्मक ज्ञान अथवा ज्ञानात्मक संवेदन शब्द विचारणीय हैं जहां तर्क और संवेदन की मिली-जुली भूमि स्वीकारी गई है। रचना और समीक्षा का अन्तरावलम्बन मुक्तिबोध के चिन्तन का महत्त्वपूर्ण पक्ष है। उनका कहना है—'आलोचक का कार्य केवल गुणदोष-विवेचन ही नहीं है, वरन् साहित्य का नेतृत्व करना भी है। आलोचक का धर्म साहित्यिक नेतागिरी करना नहीं है वरन् जीवन का मर्मज्ञ बनना और उसी विशेष की सहायता से कला-समीक्षा करना भी है। साहित्यक नेतृत्व करने के लिए तो जीवन-मर्मज्ञता की और भी अधिक आवश्यकता है।' इस प्रकार मुक्तिबोध ने आलोचना को एक गहरा सामाजिक-सांस्कृतिक दायित्व दिया और उससे उसी प्रकार के जीवन-बोध की मांग की जैसी कि रचना से की जाती रही है। मुक्तिबोध ने हिन्दी समीक्षा को एक नया मुहावरा देने की पहल की और उनका शब्द-संसार इस दृष्टि से उपयोगी अध्ययन का विषय है।

आलोचना के आभिजात्य का टूटना नये सामाजिक दबावों की एक सही शुरुआत है। प्रश्न है कि आखिर रचना, आलोचना किसे सम्बोधित करना चाहती हैं और किस ज़बान में? यदि आलोचना लेखक और पाठक के बीच एक सही

संवाद लाने में सहायक बनना चाहती है तो उसे रचना के साथ-साथ पाठक को भी अपने सामने रखना होगा। धूमिल जैसे कवियों ने रोज़मर्रा के ढेर सारे शब्दों को उठाकर रचना में ढाल दिया। आलोचना की समकालीन स्थिति से गुज़रते हुए साफ दिखाई देता है कि उसका मुहावरा किसी विशेष वर्ग को सम्बोधित करके नहीं रचा गया है और पाण्डित्य-प्रदर्शन के द्वारा पाठक को आतंकित करने का उसका कोई इरादा नहीं है, समकालीन आलोचना के मुहावरे में जनतांत्रीकरण की प्रक्रिया क्रमशः तेज़ होती गई है और वह अब इतनी अग्राह्य नहीं है, जितनी कि कभी रही होगी।

हिन्दी आलोचना काफी अरसे तक कविता को या फिर किन्हीं सैद्धान्तिक चर्चाओं को लेकर लिखी जाती रही है। पर आज रचना में उपन्यास, कहानी की सक्रियता ने बाध्य कर दिया है कि आलोचना कविता से बाहर आए। कहानीकारों ने स्वयं इस दिशा में कवियों की तरह पहल की और अपने दृष्टिकोण को पाठकों के सामने रखा। मोहन राकेश, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, सुरेन्द्र चौधरी, शिवप्रसाद सिंह आदि के विचार संकलित होकर पुस्तकों के रूप में आ चुके हैं। डॉ० नामवरसिंह ने 'कथा-समीक्षा की एक पद्धति निकालने की कोशिश की' और कहानी को लेकर पत्रिकाओं, गोष्ठियों में बहस-मुबाहसे का लंबा सिलसिला चला तथा कहानी आन्दोलन ने काफी ज़ोर पकड़ा। देवीशंकर अवस्थी, इन्द्रनाथ मदान, धनंजय वर्मा, परमानन्द श्रीवास्तव, मधुरेश आदि के नाम इस सिलसिले में गिनाए जा सकते हैं। कविता के अतिरिक्त अन्य विधाओं में समकालीन आलोचना की सक्रियता उसके विकास की सूचना है।

समकालीन आलोचना रचना को समाज-सापेक्ष स्वीकार करके चलती है और उसके सामाजिक सरोकार के प्रति विशेष रूप से जागरूक है। इसीलिए यहां किन्हीं बने-बनाए नुस्खों से काम नहीं चल सकता और गहरे विवेक-बोध के सहारे रचना से साक्षात्कार की ज़रूरत पड़ती है। आलोचना, कल्पना जैसी पुरानी पत्रिकाओं के अतिरिक्त पूर्वग्रह, पहल आदि में समीक्षा की विस्तृत होती हुई भूमि देखी जा सकती है। समकालीन आलोचना के अपने अन्तर्विरोध हो सकते हैं, क्योंकि उसमें कई प्रकार की विचारधाराएं काम कर रही हैं जो एक-दूसरे से टकराती हैं, काट-छांट भी करती हैं। एक ओर डॉ० रामविलास शर्मा, नामवर सिंह रमेश कुंतलमेघ, विश्वंभरनाथ उपाध्याय, शिवकुमार मिश्र, मैनेजर पांडेय जैसे प्रतिबद्ध आलोचक हैं तो दूसरी ओर इनका प्रतिपक्ष भी। पर आलोचना आज पण्डिताई का पर्याय नहीं है और न वह विवशता की ही स्थिति है। उसे रचना के काफी पास लाने में समकालीन आलोचकों ने ईमानदार कोशिश की है और हम

कह सकते हैं कि शिविरों के बावजूद आलोचना की भूमि अधिक व्यापक हुई है और उसका सामाजिक सरोकार गहरा। समकालीन आलोचना का समकालीन बोध इतिहास की विकासयात्रा को स्वीकारता हुआ चलता है। इसीलिए आज पुरानी से पुरानी सार्थक रचनाओं की प्रासंगिकता तलाशी जाती है और उसमें नये संदर्भ खोजे जाते हैं।

आलोचना एक व्यापक आशय का मुहावरा है जबकि हिन्दी में प्रायः उसे साहित्य-समीक्षा तक सीमित कर दिया गया। दुर्घटना यह हुई कि इससे उसे छूट मिली कि वह जीवन-प्रवाह से अपनी आंखें मूंद ले और एक जड़ शास्त्र गढ़कर जैसे चाहे निर्णय देती चले। कभी यहां तक कहा गया कि माना रचना के किन्हीं शीर्ष प्रतिमान-लक्ष्यग्रंथों के आधार पर शास्त्र, लक्षणग्रंथ बने, पर अब तो इन्हीं को देख-सुनकर रचना करनी होगी; ये रचना का ढांचा देंगे और उसके निकष भी यहीं होंगे। एक दूसरी कठिनाई यह होती है कि जब हम आलोचना को साहित्य-केन्द्रित मान लेते हैं तो वह मुख्य ज़मीन हाथ से फिसल जाती है, जिस पर रचना स्थित होती है। हम 'शुद्ध साहित्य' का नारा लगाते हैं, जबकि रचना मूलतः जीवन से सीधे साक्षात्कार या मुठभेड़ से जनमती है। जिसे हम रचना या सर्जन कहते हैं, उसमें कलाओं का वह विराट जगत भी समाया हुआ है जिसमें निरन्तर संवाद की प्रक्रिया गतिशील रहती है और रचनाशीलता के लंबे इतिहास पर दृष्टि दौड़ाएं तो पाएंगे कि जब-जब यह अन्तरावलम्बन कमज़ोर हुआ है, उसने सम्पूर्ण रचना-जगत को दुर्बल किया है।

आलोचना रचना से तरह-तरह की मांग करती आई है, कई बार वह न्यायाधीश की तरह एकतरफ़ा फ़ैसला सुनाने की कोशिश भी करती है। पर कुछ भी हो, इस ज़माने में वह 'अमरता का पासपोर्ट' दे सकने का भ्रम नहीं पाल सकती। सबसे पहले आलोचना/आलोचक को समझना होगा कि जब रचना से जीवन की गहरी संलग्नता और कला-क्षमता की मांग की जाती है, तब जो आलोचना उस रचना के सहारे आगे बढ़ती है, वह जीवन से तटस्थ कैसे हो जायगी? यदि रचना के लिए जीवन-संपृक्ति सही प्रस्थानबिंदु है, तो आलोचना को भी उस ज़मीन का ठीक अनुमान होना चाहिए जिस पर रचना जन्म लेती है। सही मायने में रचना एक आलोचना भी है, क्योंकि वह भावोच्छ्वास पर नहीं जी सकती, लंबी दूरी तय कर पाना उसके लिए असंभव है। आस-पास की दुनिया से टकराती हुई रचना उसकी समीक्षा करती है, एक प्रकार से रचनाकार के लिए वह आत्मालोचन का क्षण भी है। इसी तरह सही आलोचना की भी सर्जनयात्रा अथवा रचनायात्रा होती है। आलोचना एक बड़े कैनवास/फलक को अपने सामने रखती है ताकि रचना का पूरा वृत समझ सके। फिर संवेदन के स्तर पर वह कृति से जीवंत मुलाकात करती है और यहां आलोचक एक सजग पाठक है। फिर

ईमानदार आलोचना की जिम्मेदारी यह कि वह कृति को अर्थ-व्याप्ति, अर्थ-दीप्ति देती हुई, इसके आशय को पाठक तक पहुंचा दे। इस लिहाज़ से सार्थक आलोचना एक संवेदन-सेतु भी है—कृति और पाठक के बीच। हम जिस आलोचना को सार्थक मानते हैं, उसे सर्जनात्मक आलोचना कहते हैं, विनम्र भाव से यह स्वीकारते हुए कि आलोचना भी अपने ढंग से एक रचना है।

हिन्दी में दुर्घटना यह कि अपने-अपने झंडे, शिविर और उनमें भी कई बार इतनी जल्दी 'अबाउट टर्न' कि पाठक इस आकस्मिक-अतार्किक विपर्यय के बारे में सोचता रह जाता है, दिग्भ्रमित होता है। रचना के सामने भी ऐसे चुनौती-भरे क्षण आए हैं। 'रोमांटिक्स' ने आत्मरक्षा के लिए 'पोयट्स डिफ़ेन्स' की बात की, अपने पाठकों के सामने अपना मन्तव्य स्वयं ही प्रस्तुत किया। हिन्दी में स्वच्छन्दतावादियों/छायावादियों को कविता संकलनों की लंबी भूमिकाएं लिखनी पड़ीं और 'कविता की मुक्ति' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया। जाहिर है कि बदली हुई भावभूमि के साथ आलोचना न्याय नहीं कर पा रही थी, हाथी दांत की मीनारों से नीचे उतरने में उसकी हेठी हो रही थी। ऐसे में कवियों ने अपने पाठक को सीधे ही सम्बोधित किया। उसने आलोचक को 'मध्यस्थ' मानने से इन्कार कर दिया, उसकी दलाली पर उसे भरोसा नहीं रहा। पर आत्मालोचन या आत्मव्याख्या के लिए तो ठीक है कि रचनाकार आलोचना और सर्जन की दुहरी भूमिकाएं एक-साथ निभाये, पर अपने बारे में 'तटस्थता' का काम इतना आसान नहीं। इलियट जैसे व्यक्ति ने भी इसमें कठिनाई महसूस की। नयी रचना, विशेषतया नयी कविता और नयी कहानी के दौर में कवि-लेखकों ने अपने 'स्टैण्ड' को पाठक के सामने रखा और उन्होंने भी कोशिश की हमें सीधे ही सम्बोधित करें। इससे रचना परिदृश्य को समझने में सुविधा हुई और हमने जाना कि आखिर कविता के नये संवेदन और पुराने में अंतर कहां है या नयी कहानी नयी क्यों है, किस लिहाज से। पर जब बात आगे बढ़ी तो रचनाकार में एक 'तल्खी' दिखाई देती है, जिसमें उसका दर्द यह भी कि जो काम आलोचना को करना था, वह उसे करना पड़ रहा है, किसी अनिवार्य विवशता में। आलोचकों का कमाल यह कि वह इतने मौलिक हो गए हैं कि वे हममें वह तलाश रहे हैं जो यहां है ही नहीं।

हिन्दी आलोचना की दुर्गति यह कि उसकी साख निश्चित गिरी है और उसकी विश्वसनीयता में कमी आई है। रचना के व्यवसायीकरण में यह विवशता हो सकती है कि किसी आलोचक से कोई प्रमाणपत्र बतौर विज्ञापन प्राप्त कर लिया जाय। पर यह विचारणीय है कि इससे पाठक को कृति से सही साक्षात्कार में कितनी मदद मिली है, या रचना का कितना अर्थ-विस्तार हुआ है और सबसे बड़ी बात यह कि स्वयं रचनाकार ने अपने आत्मालोचन में उससे कितना सीखा-गुना है। आलोचना का एक परिदृश्य यह कि हम पहले किन्हीं आशयों पर पहुंचे

हुए होते हैं, फिर कृति में उन्हें ज़बरन पाना चाहते हैं। हमारा तो रंगीन चश्मा है, उसी से हमें सब कुछ देखना-समझना है। भाड़ में जाय आलोचना की तटस्थता या उसकी रचनायात्रा। हमें तो अपने शिविर बनाने हैं और इसके लिए पारस्परिक प्रशंसा या 'म्युचुअल एडमिरेशन' ज़रूरी है। इसे ध्यान में रखकर हम अपना खाता-बही खोले हुए हैं और ग़लत-सही इन्दराज करते हैं। जब ज़माना दल-बदल और पाक्षिक/साप्ताहिक मैत्री का हो तब तो स्थिति और भी दयनीय हो जाती है। हम किसी प्रतिगामी से हाथ मिलाकर उसे अपने अखाड़े का पट्ठा सिद्ध करना चाहते हैं और सही 'जेनुइन' लेखक को लतियाने की भूल करते हैं, 'ग़लत जगह समझौता, ग़लत जगह लड़ाई', हिन्दी में सिरफुटौवल, लतखोरी का नज़ारा आलोचना को अप्रामाणिक, अविश्वसनीय बनाता है। हमारे राष्ट्रीय चरित्र के संकट की एक तस्वीर हिन्दी आलोचना में भी देखी जा सकती है।

ऐसा नहीं कि हिन्दी आलोचना आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से आगे नहीं बढ़ी। उसने गुणात्मक विकास किया, कई नयी दिशाओं में प्रयाण किया। उसका सोच व्यापक हुआ और कलाजगत को एक समान इकाई मानकर रचना को समझने की कोशिश की गई। उसकी शास्त्रीय, अकादमिक दीवारें टूटीं और उसने स्वीकार किया कि आलोचना को भी उस जीवन से मुलाकात करनी होगी जिसकी मांग रचना अथवा सर्जन से की जाती है। उसने स्वीकार किया कि रचना का सौन्दर्य-शास्त्र भी होता है और समाजशास्त्र भी तथा उनके घनिष्ठ संयोजन से रचना एक मार्मिक कलाकृति का रूप लेती है, कई बार कालजयी भी बनती है। नाम गिनाने से 'भाईचारे' का आक्षेप लग सकता है, पर सचाई है कि कई नये लेखकों की आलोचना इस मायने में ज्यादा विश्वसनीय है कि वह रचना की सही समझ में हमें रास्ता सुझाती है।

पाठक, ईमानदार-जिज्ञासु पाठक, आज भी आलोचना की उपयोगिता महसूस करता है। कृति से सीधी मुलाकात करते हुए मुझे अपने ही विवेक के सहारे बढ़ना होता है और जाहिर है कि उसकी सीमाएं होंगी। ऐसे में मैं या मेरे जैसे ही पाठक कोई 'आलोक' या 'रोशनी' चाहेंगे जिसके सहारे रचना के निहितार्थ में और गहरे धंस सकें, उसे ठीक ढंग से पहचान सकें, समझ सकें। आज के संश्लिष्ट/जटिल समय में, जबकि मूल्यहीनता का संकट है, स्थिति अराजक है तब यह और भी अनिवार्य है कि आलोचना अपने 'सांस्कृतिक दायित्व' को गहरे स्तर पर महसूस करे। जिसे सही कारगर हस्तक्षेप कहा जाता है, वह दरअसल रचना को एक नया सार्थक मोड़ दे सकने की ईमानदार पहल भी हो सकती है और इस दृष्टि से आलोचना की भूमिका ऐतिहासिक। इतिहास गवाह है कि जब भी आलोचना की साख गिरी है, अराजक स्थिति और भी भयानक हुई है। यहां आलोचना शब्द का उपयोग साहित्य-समीक्षा से आगे बढ़कर एक व्यापक अर्थ में किया जा रहा है।

रचना और आलोचना में सही सार्थक संवाद के बिना दोनों कमज़ोर होती हैं और पूरा परिदृश्य ही लड़खड़ा जाता है। ज़रूरत है कि आलोचना पैग़म्बरी मुद्रा छोड़े और अपने तथाकथित आभिजात्य से बाहर निकलकर सामाजीकरण-प्रजातंत्रीकरण की प्रक्रिया स्वीकार करे—यह इतिहास की अनिवार्य मांग है। जहां तक सार्थक रचना का सवाल है वह अपने दम-खम, बल-बूते पर लगातार फैलती जायगी, लंबी यात्रा करेगी, वह आलोचना की मोहताज नहीं। पर यदि रचना और आलोचना में सार्थक-उपयोगी संवाद हों तो दोनों का भला होगा, स्थिति बेहतर हो सकती है।

कभी-कभी यह भी सवाल उठाया जा सकता है कि आखिर समीक्षा की सार्थकता क्या है? उसका कौन-सा प्रयोजन है जिसके लिए समीक्षक रचना और पाठक के बीच मध्यस्थ बनकर उपस्थित होना चाहता है। यदि लेखक सीधे ही अपने पाठक वर्ग को सम्बोधित करना चाहे और पाठक बिना समीक्षा के सहारे रचनाओं में प्रवेश करने की चेष्टा करे, तो भला क्या बिगड़ जाएगा? आदि अनेक प्रश्न हैं जो समीक्षा की सत्ता को लेकर उठते हैं। बहुत पहले जब लोक-साहित्य, लोकगीत, लोककथा आदि से साधारणजन का मनोरंजन हो जाया करता था, तब शुद्ध अथवा शिष्ट साहित्य प्रबुद्ध वर्ग तक सीमित होता था। बल्कि ऐसा भी हुआ कि लोकसाहित्य का सचेत उपयोग कवियों ने अपनी रचनाओं में कर लिया, और इस प्रकार पूरा-का-पूरा एक मिथकीय जगत साहित्य में कई रूपों में प्रवेश पा गया। लिखित साहित्य के आगमन के साथ-साथ समीक्षक ने पदार्पण किया और वह क्रमशः स्वयं को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करने लगा। पर साहित्य के इतिहास में अनेक ऐसे क्षण आए हैं जब लेखकों ने समीक्षकों पर यकीन करने के बजाय अपने पाठकों से सीधा सम्पर्क स्थापित किया, और उनसे बातचीत की। इसके कारण अनेक हो सकते हैं, पर मुख्य बात यह कि ये लेखक जिस नयी दुनिया को अपनी रचनाओं में प्रस्तुत कर रहे थे, उसकी आग का अन्दाज़ इन तथाकथित समीक्षकों को नहीं था।

रचना-आन्दोलनों के हर दौर में यह स्थिति आई है जब समीक्षकों को नये परिवेश को समझने में देर लगी। शायद जितनी तेजी से रचनाएं भाग रही थीं, उतनी गति से समीक्षा में परिवर्तन नहीं हो रहे थे। अक्तूबर क्रान्ति के अनन्तर रूसी साहित्य को भी नये वातावरण की संपूर्ण अभिव्यक्ति का माध्यम बन सकने में समय लगा, और समीक्षक नये प्रतिमानों का निर्माण कर पाने में पिछड़े हुए दिखाई देते थे। ऐसी स्थिति से असंतुष्ट होकर मायकोविस्की ने लेखकों से साहित्य का 'रूसी व्यक्तित्व' खोजने के लिए कहा था। प्रायः यह भ्रम प्रचारित कर दिया गया है कि केवल नयी सृजनात्मक प्रतिभाएं ही नयी भूमियों की तलाश करती हैं, और उस अभीप्सित वातावरण को बिम्बित करने के लिए रचना के नये अस्त्र

काम में लाती हैं। पर इन बदले हुए तेवरों की ठीक-ठीक पहचान और न्यायोचित मूल्यांकन के लिए समीक्षा को भी एक नये मुहावरे की तलाश करनी पड़ती है। अपनी तत्काल पूर्ववर्ती रचनाओं के जगत से जो सृजन जितना अधिक स्वतंत्र होगा, उसे जानने के लिए उतनी ही बदली हुई समीक्षा-भाषा की अपेक्षा होगी। मेरा तो विचार है कि ऐसे अवसरों पर वे ही समीक्षक कृतियों के साथ सहयात्री बनकर चल पाते हैं, जो रचनाओं के भीतर जाकर उनसे एक सम्पर्क स्थापित करना चाहते हैं। साधारण व्याख्या, विवेचन, टिप्पणी तो किसी ज़माने में टीकाकर, भाष्यकर्त्ता भी कर लिया करते थे, पर आज जब समीक्षा को सृजन से भी अधिक तेज़ चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है, समीक्षक का दायित्व अपने पूर्ववर्ती सहकर्मियों की तुलना में कठिनतर हो गया है।

समीक्षा के सामने आज कई चुनौतियां हैं। कभी समीक्षा को लेखक और प्रबुद्ध पाठक के बीच एक सेतु माना जाता रहा है, पर अब शायद दोनों की आस्था धीरे-धीरे उस पर से उठती जा रही है। लेखक यह समझता है कि समीक्षक अपने पूर्वाग्रहों के साथ उसकी रचनाओं में प्रवेश करता है और इसलिए बेहतर होगा कि वह उसे अपनी वकालत न करने दे। जिसे हम जन-साहित्य कहते हैं और जिसका स्वाद साधारण जनता लेती आई है, उसने अपने प्रिय लेखक से प्रत्यक्ष मुलाकात की है और समीक्षक की मध्यस्थता उसे स्वीकार नहीं हुई। इसी कारण एक समय तक अलिखित और अमुद्रित साहित्य का महत्त्व किसी प्रकार घटकर नहीं था। उसकी एक समृद्ध वाचिक परम्परा थी। ज्यों-ज्यों शिक्षा का प्रसार होता गया और लोगों में साक्षरता बढ़ती गई, मुद्रित साहित्य के पाठकों की संख्या में वृद्धि हुई, ऐसे अवसर पर समीक्षक ने धीरे से प्रवेश किया। यहीं प्रश्न उठता है कि जब लेखक और पाठक दोनों इस 'ज़न्तु' को संदेह की दृष्टि से देखने लगे हैं, तब कौन से कारण हैं जिससे वह रचना के विवेचन में सक्रिय रहता है। निश्चित ही रचनाकार और उसके मूल्यांकनकर्त्ता की प्रेरक शक्तियों में अन्तर है। एक जीवन-दृश्यों से प्रत्यक्ष साक्षात्कार करता हुआ, उनके आलेखन में स्वयं को नियोजित करता है। यहां उसकी प्रतिक्रियाएं किसी हद तक वैयक्तिक भी कही जा सकती हैं क्योंकि एक ही जीवन-दृश्य भिन्न-भिन्न रचनाकारों में पृथक्-पृथक रूप से बिम्बित होता है। कारण स्पष्ट है कि इन लेखकों की अपनी सृजनात्मक अनुभूति अलग-अलग होती है और वे इसी गवाक्ष से जीवन-दृश्यों को देखते हैं। सृजन से तत्काल पूर्व के क्षणों में रचनाकारों की चेतना की बनावट एक महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती है और जिसकी सामर्थ्य जितनी अधिक होगी, वह उतनी ही महत्तर भूमियों पर जा सकेगा। पर समीक्षक बेचारा हमेशा 'विजय-मंच में नीचे खड़ा किया गया क्योंकि उसे प्रत्यक्ष अनुभव-जगत का विश्लेषक नहीं माना गया। समीक्षक के सामने एक चुनौती यह भी है कि वह सृजन की उन

जटिल भूमियों से गुजरे जिनसे होकर रचनाएं अपने वर्तमान रूप में हमारे सामने आई हैं। उन सृजन-क्षणों से निकट साक्षात्कार के बिना समीक्षा न्यायाधीश का निर्णय बनकर रह जायेगी और समीक्षक रचना में सम्मिलित नहीं हो सकेगा। वास्तव में सृजन और समीक्षा की प्रक्रिया में जब तक अन्तराल कम नहीं हो जाता और दोनों को एक-दूसरे के समीप नहीं ले आया जाता, तब तक इस प्रकार की कठिनाई बनी रहेगी।

रचनाएं युग के संदर्भ में ही परीक्षित हो सकती हैं, यह निर्विवाद है, यद्यपि उनका एक कालजयी स्वर भी होता है। इसे हमें स्वीकार करना होगा। पर कृतियों की मुख्य प्रेरणाभूमि वर्तमान है और जिस परिवेश में कोई लेखक कार्य करता है, उससे असम्पृक्त रह जाना, उसके लिए असम्भव है। हां, इस प्रक्रिया में रचनाकार का अपना व्यक्तित्व भी सम्मिलित है और उसे एक यंत्र से किंचित भिन्न माना होगा। सचाई तो यह है कि जो रचना अपने वर्तमान में नहीं जीती, वह भविष्य की दावेदार भी नहीं बन पाती। ध्यान सिर्फ इतना रखना होगा कि कृति सामयिकता को ऊपर-ऊपर छूकर न निकल जाए, उसकी गहराइयों में प्रवेश करे, और उसकी पर्तें खोलने की चेष्टा करे। जब हम रचना में वर्तमान परिवेश की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं, तब यह कैसे संभव है कि समीक्षा गतावधि अथवा अप्रचलित प्रतिमानों के आधार पर अपना निर्णय देने लगे। इसीलिए जीवन्त समीक्षाएं लगभग सृजन के साथ-साथ यात्रा करती हैं और हर समर्थ समीक्षक अपने समय की रचनाओं के साथ न्याय करने के लिए नये प्रतिमान की तलाश ही नहीं करता, वरन् ऐसा नया मुहावरा भी खोज लेता है जिससे अपनी बात पाठकों तक पहुंचा सके। आज जब हर दशक में नये साहित्य-आन्दोलन जनमने लगे हैं और रचनाओं की 'अदाएं' बड़ी तेज़ी से बदल जाया करती हैं, तब समीक्षा को और भी तेज़ भागना पड़ता है। कभी-कभी होता यह है कि समस्त प्रतिभा के बावजूद समीक्षकों के कदम कई बार पिछड़ जाया करते हैं। हिन्दी में आचार्य शुक्ल ने प्रथम बार समीक्षा को एक बौद्धिक आधार दिया था, पर जब वे छाया-वादी काव्य का विवेचन करने लगे, तब अवचेतन पर पड़े हुए आच्छादनों से स्वयं को पूरी तरह मुक्त नहीं कर सके और इसीलिए वे उस काव्यान्दोलन से जुड़ नहीं पाए। पर यह तस्वीर का केवल एक पहलू है। समीक्षा और सृजन की सहयात्रा से सम्पूर्ण लेखन और साहित्य को गति मिलती है क्योंकि दोनों एक-दूसरे से सार्थक बातचीत करती हुई आगे बढ़ती हैं। लेकिन अगर रचना किसी भी बाहरी आक्रमण के कारण गुमराह हो गई है और अपने मुख्य मार्ग से हट गई है, तब समीक्षा वैचारिक धरातल पर चलकर एक ऐसे वातावरण का निर्माण कर सकती है कि सृजन अपनी उचित राह प्राप्त कर ले।

समीक्षा को अगर द्वितीय स्थान पर भी जीवित रहना है तो उसे एक व्यापक

रिक आन्दोलन का सहभागी बनना होगा, क्योंकि रचनाएं, अब शुद्ध साहित्य
।बिल लगाकर नहीं चल सकतीं। चारों ओर के जीवन से हम अप्रभावित रह
, यह असंभव है और फिर रचनाकार तो अपेक्षाकृत अधिक संवेदनशील प्राणी
है, उसके मानस पर प्रतिक्रियाएं तीव्रतर होंगी। होता यह है कि लेखक
ो निरीक्षण-क्षमता के सहारे, दुनिया की सैर जल्दी कर लेता है, संवेदन के
ग उससे जुड़ भी जाता है और फिर कल्पना-शक्ति से उसे नये वर्ण दे देता है।
मीक्षक पिछड़ जाता है, क्योंकि कृति के पास जाते हुए, वह अपने कई पूर्वाग्रहों
ों मुक्त नहीं हो पाता। ऐसे में यदि रचना और समीक्षा दोनों एक साथ उस
क वैचारिक आन्दोलन का भाग बन जायं तो जाहिर है कि उनमें पार्थक्य क्रमशः
होता जाएगा और तब समीक्षा के तिरोहित हो जाने का खतरा घट जायगा।
विधाएं तब ज़िन्दगी से सीधे ही अपनी प्रेरक शक्तियां पा सकेंगी और हमें
रचनाकार मिल सकेंगे जो केवल भावावेश के सहारे रचना में प्रयुक्त होने
जाय, अन्तरावलोकन अथवा आत्मालोचन भी करते चलेंगे। हम सृजनात्मक
क्षा की ऐसी बानगी भी पा सकेंगे, जहां विवेच्य कृतियां अथवा कृतिकार एक
ाम मात्र होते हैं और एक बिन्दु पर आकर समीक्षक स्वयं सृजन करने लगता
हिन्दी की दुरूह और असृजनात्मक समीक्षा के पुनर्निर्माण के लिए यह जरूरी
योंकि प्रबुद्ध पाठक तक यह शिकायत करते पाये जाते हैं कि समीक्षाओं के
यात्रा कर पाना कठिन होता है क्योंकि वे 'अध्यापकीय' होती जा रही हैं।
ा कृति के मध्य से गुज़रते हुए, स्वयं को उसी संवेदन-लोक में पहुंचा देना,
कृतिकार सृजन के क्षणों में रहा होगा, किसी श्रेष्ठ समीक्षक के बूते की ही
है और यह महत्त्वपूर्ण समीक्षा का प्रथम चरण है। रचना से साक्षात्कार के
तर, समीक्षक की निर्मम तटस्थता का दूसरा चरण आरंभ होता है, जब वह
ा से अनासक्त तो होता ही है, स्वयं अपने पूर्वाग्रहों से भी उसे मुक्त होना
ा है। यह कार्य सबसे कठिन और सबसे ज़िम्मेदारी का है, क्योंकि आज प्रायः
अथवा सीमान्ती समीक्षाओं की शिकायत की जाती है। सम्पूर्ण वस्तुपरकता
के ज़माने में कठिन अवश्य है पर श्रेष्ठ समीक्षक इस चुनौती का सामना करते
दूसरे चरण को पार कर सकता है। यहां समीक्षा को वैयक्तिक प्रतिक्रियाओं
निर्भर न रहते हुए, सामाजिक संवेदनों का प्रतिनिधित्व भी करना होगा ताकि
पाठक भी उसमें सम्मिलित हो सकें। समीक्षा के तीसरे और अंतिम दौर में
मुहावरे की तलाश करनी पड़ती है जो प्रतिक्रियाओं को सार्थक और ग्राह्य
व्यक्ति दे सके। समीक्षा-भाषा, काव्य की शब्द-राशि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं
करती, इसे समझे बिना समीक्षा के क्षेत्र में कदम रखना खतरनाक है।
त रहने के लिए जैसे रचनाएं वर्तमान से जुड़ती हैं और नये-नये मुहावरे
लेती हैं, उसी तरह समीक्षा को भी अपने तेवर बदलने होंगे, नहीं तो वह

पिछड़ जायेगी।

वर्तमान परिवेश में ऐसा महसूस होता है कि नयी समीक्षा के सामने फिर एक चुनौती प्रस्तुत है। छायावाद के रूमानी वातावरण से संघर्ष करते हुए उसने अपने लिए एक नया रास्ता बनाया था। गैर रूमानी साहित्य के लिए नये प्रतिमानों की उसने तलाश की। पर कभी-कभी लगता है कि वह फिर अपने ही मुहावरों में फंस जायगी, एक अजीब तरह का शब्द-जाल हमारी समीक्षा को घेरता जा रहा है—संत्रास, घुटन, आत्मनिर्वासन, यंत्रणा आदि न जाने कितने शब्द हमारे सामने फेंक दिए गए हैं और हम फिर उनका अर्थ खोजने की कोशिश कर रहे हैं। कहीं ऐसा तो नहीं है कि हम एक प्रकार के शैली-वैशिष्ट्य अथवा 'मैनरिज़्म' में फंस गए हैं। ऐसे में बात बहुत साफ है कि रचना की तरह समीक्षा को भी जीवन से सीधे-सीधे संवाद करने की आदत डालनी होगी और जीवन भी आज़ाद हिन्दुस्तान का, जिसके असंख्य सपने चौखट पर सिर पटक रहे हैं। यदि समीक्षा आयातित प्रतिमानों अथवा मृत शास्त्र के सहारे प्रदर्शन करना चाहती है तो वह दिशा भूल बैठी है। सृजन की तरह उसे भी अपना देसी व्यक्तित्व खोजना होगा, नहीं तो रचनाओं के साथ वह न्याय नहीं कर पाएगी और भला पाठक उस पर क्यों विश्वास करना चाहेंगे? विचारों की टकराहट अच्छी होती है, बशर्ते वहां मंशा सिर्फ मार-काट, चौंकाने अथवा खुद को स्थापित करने की न हो। इस दृष्टि से हिन्दी में यदि कभी शीतयुद्ध आया था, तो वह भी स्वागत योग्य था। पर मात्र वैयक्तिक रुचियों अथवा नगर-बोध में समीक्षा को कैद कर देना, उसे प्रवहमान जीवन-धारा से काट देना है और यह स्थिति चिन्तनीय है। जैसे भी हो, इससे उबरना ही होगा। उसे नयी भूमियों पर आना होगा, जब तक वह सृजन के साथ जुड़ने और न्याय कर सकने के लिए नया मुहावरा नहीं पा जाती। समाजशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र की सम्मिलित भूमि में लूकाच, गोल्डमान, रेमंड विलियम्स, ग्राम्शी आदि का भी उपयोग किया गया है।

वाद का वास्तविक आरंभ 1936-38 में लिखी गई नलिनविलोचन शर्मा की कविताओं से होता है जिसमें से कुछ ही पत्र-संपादकों के हलक के नीचे उतर सकी थीं।" प्रपद्यवाद अपने वाद के आधार से सतत प्रयोग करते जाना ही अपना लक्ष्य मानता है, यह कहकर प्रपद्यवाद ने प्रगति-प्रयोग दोनों को अस्वीकार किया। प्रपद्यवाद ने साहस के साथ उस 'प्रयोगवाद' को स्वीकारा, जिस नाम से अज्ञेय बचना चाहते थे और 'पसपशा' में काफी विस्तार के साथ कवियों ने अपने मंतव्य को स्पष्ट किया। द्वादश सूत्री की व्याख्या की गई। प्रपद्यवाद का स्वरूप सामने लाया गया और विभिन्न आलोचकों के आक्षेपों के उत्तर भी दिए गए। यहां कविता को 'सामान्य अनुभव के क्षेत्र से आगे के अनुभव को प्रकट करने वाला' माना गया और इस प्रकार नकेनवाद या प्रपद्यवाद बीसवीं शती की तार्किकता/बौद्धिकता की झलक देता है।

नये हिन्दी काव्य का प्रथम चरण, जिसे प्रयोगवाद नाम दिया गया, आरंभ में अज्ञेय के नेतृत्व में चला क्योंकि वे 'तारसप्तक' के साथ 'प्रतीक' के भी सम्पादक थे। पर जैसा कि संकेत किया जा चुका है। तारसप्तक के अधिकांश कवि अपने को प्रगतिशील मानते थे जबकि अज्ञेय का ऐसा कोई दावा नहीं है। आगे चलकर सम्पादक तथा अन्य कविबन्धुओं के विरोध और भी खुलकर सामने आए। जो कार्य प्रपद्यवाद के संदर्भ में नलिनविलोचन शर्मा ने किया था, वही कार्य नये काव्य के पहले दौर में अज्ञेय को करना पड़ा। यद्यपि यह जान लेना आवश्यक है कि सम्पादक के नाते उन्हें प्रयोगवाद के पुरस्कर्ता का श्रेय तो मिल गया पर नये काव्य का प्रतिनिधित्व करने में मुख्य कठिनाई यह कि आज उस काव्य-आन्दोलन की विविधताएं हमारे सामने हैं और बिलकुल नयी पीढ़ी ने नयी दिशाएं तलाशी हैं। इसलिए हम अज्ञेय के विचारों को इस परिप्रेक्ष्य में देखना चाहेंगे।

अज्ञेय जब 'तारसप्तक' के कवियों को 'राहों के अन्वेषी' कहकर संबोधित करते हैं तब वे रचना में प्रयोगशीलता की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं, जिसकी स्वयं में अहमियत है, क्योंकि एक ही जीवन के होते हुए, इस प्रयोगशील सामर्थ्य के कारण उसकी तस्वीरें विभिन्न लेखकों में अलग-अलग हो जाया करती हैं। काव्य के प्रति इस अन्वेषी दृष्टि का 'तारसप्तक' में केवल उल्लेख है पर दूसरे और तीसरे सप्तक में और फिर अन्य समीक्षाकृतियों में अज्ञेय ने अपना मत प्रतिपादित करना चाहा। उनके प्रिय प्रतीकों में 'नदी के द्वीप' को लिया जा सकता है जो उनके व्यक्तित्व को हमारे सामने उजागर करता है—'नदी के द्वीप में' रचनाकार के वैशिष्ट्य की स्वीकृति है। वह द्वीप है, धारा नहीं। क्योंकि बहना रेत होना है। द्वीप का समर्पण स्थिर है (हरी घास पर क्षण भर)। यही भाव 'यह द्वीप अकेला' (बावरा अहेरी) में भी आया है जो पंक्ति को समर्पित

तो होना चाहता है पर अपने गर्व के साथ। रचनाकार की आत्मचेतना में उसका अहं सम्मिलित है जहां वह स्वयं को किसी विशिष्ट स्थिति में पाता है और उसका व्यक्तित्व जागरूक है। 'आत्मनेपद' में अज्ञेय ने स्वीकारा है कि "वास्तव में आधुनिक कविता की विशेषता यह है कि वह कवि के व्यक्तित्व के साथ अधिकाधिक बंधी हुई होती जा रही है" (आत्मनेपद : पृ० 33)। कहा जाय तो अज्ञेय की कविताएं उनके व्यक्तित्व का प्रक्षेपण हैं और जाने-अनजाने हिन्दी के नये काव्य ने इसे कुछ समय तक स्वीकार किया पर बाद में विद्रोह। इस संदर्भ में 'त्रिशंकु' का एक निबन्ध 'रूढ़ि और मौलिकता', जो टी० एस० इलियट के 'ट्रेडिशन एण्ड द इंडीविजुअल टेलेण्ट' से प्रभावित है, व्यक्तित्व को जीवन-खंड से अलगाकर, स्व, अहं तथा रचनात्मक व्यक्तित्व में अंतर करता है।

अज्ञेय ने रचना में व्यक्तित्व को प्रमुखता दी और धीरे-धीरे उनके इर्द-गिर्द एक ऐसा वृत्त बना, जिससे हिन्दी साहित्य में शीतयुद्ध की शुरुआत हुई। 'तारसप्तक' में प्रगति-प्रयोग की जो सम्मिलित भूमि दिखाई देती है, वह आगे चलकर शिविरों में बंटने लगी। एक ओर वे प्रगतिवादी जो सामाजिक यथार्थ, प्रतिबद्धता की बात कह रहे थे। दूसरी ओर 'रचनाकार की स्वतन्त्रता' का नारा जिसे तथाकथित प्रयोगवादियों से जोड़ा गया। एक दिलचस्प बात यह कि हिन्दी में जो झगड़ा कभी प्रयोगवाद-प्रगतिवाद को लेकर चला था और जिसके बाद 'नयी कविता' नाम एक नये समन्वय पंथ के रूप में चला, वह अब एक दूसरे रूप में हमारे सामने है। एक ओर वे हैं जो कभी अज्ञेय को लेकर चले थे और आज उन्हें नकार रहे हैं। दूसरी ओर प्रगतिवादी शिविर में भी वाम को लेकर टकराहट है, प्रगतिवादी और जनवादी।

हिन्दी की प्रयोगवादी समीक्षा में एक ओर नलिनविलोचन शर्मा हैं तो दूसरी ओर अज्ञेय। पर नयी कविता के पहले दौर से जुड़े हुए कई ऐसे नाम हैं, जिनकी समीक्षाएं नये काव्य की समझ में हमारी सहायता करती हैं। इनमें तारसप्तक के वे वक्तव्य इतिहास की दृष्टि से उपयोगी हैं, जिनके माध्यम से नये काव्य का पहला चित्र हमें देखने को मिलता है। ये कवि अपना पृथक व्यक्तित्व रखते हुए भी स्वीकारते हैं कि इतिहास के दबावों में रचना की दिशा बदलती है और इसी से सामयिक संदर्भ उभरते हैं। एक समय-विशेष में यात्रा करने वाले दो रचनाकार इस ढंग से प्राचीन और आधुनिक भी हो सकते हैं कि एक उस क्षण में होकर भी नहीं है,क्योंकि समय के बदलते तेवरों का एहसास उसमें नहीं है--- अधिकांश उत्तर छायावादी गीत सृष्टि ऐसी ही है। पर जिन्हें अपने समय और इतिहास का भान है, वे भी सब एक जैसे नहीं हैं। एक वे जो केवल सामयिकता से उलझकर रह सकते हैं, अखबार की कतरन की तरह। पर वे भी हैं जो इतिहास की दौड़ती हुई पथरेखा पर दृष्टि डालते हैं। परंपरा के जीवन्त क्षणों का पुनर्मूल्यांकन करते हुए

जाते-जाते वे नये काव्य को एक अच्छा प्रमाणपत्र देते गये। दूसरी ओर नवलेखन को अतिरंजित प्रशंसा का भार भी झेलना पड़ा और बहुत से नक्काल भी इसमें घुस आये जिससे स्थिति अराजक हो गई। निंदा और स्तुति दोनों ही संतुलित समीक्षा और सृजन के वस्तुपरक मूल्यांकन के शत्रु हैं। ऐसे अवसरों पर अपना 'स्टैण्ड' स्पष्ट करने के लिए नवलेखन के हस्ताक्षरों को स्वयं अपना समीक्षक भी बनना पड़ा और उनके वक्तव्य इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं कि उन्होंने वृत्त के भीतर रहकर अपनी सृजन-प्रक्रिया को समझाने की चेष्टा की। समीक्षकों का एक वर्ग वह भी है जो यद्यपि स्वयं कविता, कहानी, उपन्यास आदि का रचयिता नहीं है, पर जिसने नवलेखन को अपनी सहानुभूति दी। संवेदन के स्तर पर उससे परिचय स्थापित किया और एक प्रकार से समानान्तर यात्रा की।

आज जब कि नवलेखन लम्बी यात्रा तय कर आया है और तारसप्तक की अन्वेषी वृत्ति से लेकर अकविता, अकहानी के किसिम-किसिम रूप उसमें बनते-बिगड़ते रहे हैं, तब स्वाभाविक है कि समीक्षा उस पर नये सिरे से विचार करने की चेष्टा करे। इधर पुनर्मूल्यांकन का जो नारा लगा है, वह हिन्दी समीक्षा की जीवंतता का प्रमाण भी है क्योंकि हम परम्परा के सर्वोत्कृष्ट की प्रासंगिकता भी तलाश सकते हैं। सामयिक लेखन पर टिप्पणी कर सकने का काम जोखिम भरा होता है, पर उससे किनाराकशी कर जाना भी समीक्षा के दायित्व को भुला देना होगा। नवलेखन के आरम्भिक दौर में प्रतिभाएं अपने प्रथम चरण में थीं और उनकी संभावनाओं की ही बात की जा सकती थी, पर आज नवलेखन स्थापित है और पिछले खेमे के कई लेखक लगभग रचना के अन्तिम दौर में हैं। इसलिए हिन्दी नवलेखन के साथ-साथ चलने वाली समीक्षा की चार दशकों की सहयात्रा पर विचार किया जा सकता है।

नवलेखन के संदर्भ में सबसे महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय उन कवि-समीक्षकों का है जो स्वयं अपने काव्य के व्याख्याता बने। स्टीफ़ेन स्पेंडर, के 'स्ट्रगल ऑफ़ द माडर्न' जैसी एक तस्वीर हिन्दी में भी उभरती है। यहां यह जान लेना उपयोगी है कि 'तारसप्तक' के कवियों के व्यक्तित्व अपने-अपने ढंग से विकसित हुए और 1943 के बीस बरस बाद 1963 में 'तारसप्तक' का नया संस्करण निकला तो उसमें कइयों ने एक प्रकार से दल-बदल कर लिया। अगर पहले संस्करण को लेकर बात की जाये तो यह जानकर आश्चर्य होगा कि सन् '43 के वक्तव्यों के अनुसार सम्पादक अज्ञेय को छोड़कर अधिकांश कवि किसी-न-किसी रूप में अपने को प्रगतिशीलता से जोड़ते हैं और रचना में प्रतिबद्धता का आग्रह करते हैं। इनमें डॉ० रामविलास शर्मा जैसे कॉमरेड-समीक्षक हैं और मुक्तिबोध जैसे कवि भी जो रचना में मार्क्सवाद के नये व्याख्याता हैं। शेष ने—नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, गिरिजाकुमार माथुर, प्रभाकर माचवे ने अपना 'स्टैण्ड' थोड़ा बदल दिया। इसे

वे अपना मोहभंग मानते हैं, पर इस विषय में बहस की काफी गुंजायश है।

लगता है कि तारसप्तक के कवियों और उसके सम्पादक अज्ञेय के बीच काफी दूरी है। चिंतन के स्तर पर कविगण एक छोर पर हैं और सम्पादक दूसरे छोर पर। स्वयं कवियों ने तारसप्तक के नये संस्करण में इस विषय में अपना आक्रोश व्यक्त किया है। नेमिचन्द जैन का ही 'पुनश्च' वक्तव्य लें। "तारसप्तक के कवियों को एकत्र करने और 'पात्र' समझकर उन्हें पाठकों के सामने लाने का यह मिथ्या दावा दम्भ न भी हो, पर इन कवियों के साथ सरासर अन्याय तो है ही।" यह व्यक्तित्वों की आपसी टकराहट तो है ही, पर इससे यह भी पता चलता है कि इन कवियों की विचारों वाली दुनिया भी काफी अलग थी। पर जब अज्ञेय को इन स्वरों को एक बिंदु पर लाकर प्रस्तुत करना था, तब उन्होंने उनके पृथक व्यक्तित्व को स्वीकारते हुए भी उनमें कुछ समान तत्त्व पाने की कोशिश की, ताकि कोई 'सरगम' बन सके। ऐसे में उन्होंने दावा किया कि वे सब राहों के अन्वेषी हैं और काव्य के प्रति यह दृष्टिकोण उन्हें समानता के सूत्र में बांधता है। इस अन्वेषी वृत्ति को लेकर समीक्षकों ने प्रयोगवाद नाम गढ़ डाला। हिन्दी स्वच्छन्दतावादी काव्य के व्यक्तित्व को उजागर करने वाला छायावाद जैसा असमर्थ नाम, जिस प्रकार व्यंग्य-व्यंग्य में मिल गया था, उसी प्रकार नये काव्य के प्रथम चरण को 'प्रयोगवाद' का लेबिल मिला।

अज्ञेय ने दूसरे तारसप्तक (1949) में काफी शक्ति लगाई यह सफाई देने में कि वे प्रयोगवादी नहीं हैं। उनके शब्द हैं : "प्रयोगवाद नाम के नये मतवाद के प्रवर्तन का दायित्व अनचाहे और अकारण ही हमारे मत्थे मढ़ दिया गया है··· प्रयोग का कोई 'वाद' नहीं। हम वादी नहीं रहे, नहीं हैं, न प्रयोग अपने आप में इष्ट या साध्य है। ठीक इसी तरह कविता का भी कोई वाद नहीं है। कविता भी अपने आप में इष्ट या साध्य नहीं है। अतः हमें प्रयोगवादी कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है जितना हमें कवितावादी कहना।" अपने को अन्वेषी और प्रयोगधर्मा मानते हुए भी जिस 'प्रयोगवाद' के लेबिल से तारसप्तक का सम्पादक बचना चाहता था, उसी को 1956 के अंत में प्रकाशित 'नकेन के प्रपद्य' में पूरे आत्मविश्वास से अपनाया गया।

नकेन : नलिनविलोचन शर्मा, केसरी कुमार, नरेश ने प्रपद्यवाद के घोषणा-पत्र का प्रारूप प्रस्तुत करते हुए प्रपद्य की जो द्वादशसूत्री प्रस्तुत की, उसका छठा सूत्र है : "प्रयोगशील प्रयोग को साध्य मानता है। प्रपद्यवादी साध्य।" इस संदर्भ में उन्होंने 'फक्किका' में प्रगतिशील और प्रगतिवाद को मिसाल के तौर पर पेश किया। कविताओं के अंत में 'पसपशा' शीर्षक लंबे लेख में प्रयोगवाद को व्याख्यायित किया गया। आरंभिक वाक्य है : "प्रयोगवाद पर इतना कुछ लिखे जाने के बाद भी शायद यह कह देने की जरूरत है कि हिन्दी कविता में प्रयोग-

वाद का वास्तविक आरंभ 1936-38 में लिखी गई नलिनविलोचन शर्मा की कविताओं से होता है जिसमें से कुछ ही पत्र-संपादकों के हलक के नीचे उतर सकी थीं।" प्रपद्यवाद अपने वाद के आधार से सतत प्रयोग करते जाना ही अपना लक्ष्य मानता है, यह कहकर प्रपद्यवाद ने प्रगति-प्रयोग दोनों को अस्वीकार किया। प्रपद्यवाद ने साहस के साथ उस 'प्रयोगवाद' को स्वीकारा, जिस नाम से अज्ञेय बचना चाहते थे और 'पसपशा' में काफी विस्तार के साथ कवियों ने अपने मन्तव्य को स्पष्ट किया। द्वादश सूत्री की व्याख्या की गई। प्रपद्यवाद का स्वरूप सामने लाया गया और विभिन्न आलोचकों के आक्षेपों के उत्तर भी दिए गए। यहां कविता को 'सामान्य अनुभव के क्षेत्र से आगे के अनुभव को प्रकट करने वाला' माना गया और इस प्रकार नकेनवाद या प्रपद्यवाद बीसवीं शती की तार्किकता/बौद्धिकता की झलक देता है।

नये हिन्दी काव्य का प्रथम चरण, जिसे प्रयोगवाद नाम दिया गया, आरंभ में अज्ञेय के नेतृत्व में चला क्योंकि वे 'तारसप्तक' के साथ 'प्रतीक' के भी सम्पादक थे। पर जैसा कि संकेत किया जा चुका है। तारसप्तक के अधिकांश कवि अपने को प्रगतिशील मानते थे जबकि अज्ञेय का ऐसा कोई दावा नहीं है। आगे चलकर सम्पादक तथा अन्य कविबन्धुओं के विरोध और भी खुलकर सामने आए। जो कार्य प्रपद्यवाद के संदर्भ में नलिनविलोचन शर्मा ने किया था, वही कार्य नये काव्य के पहले दौर में अज्ञेय को करना पड़ा। यद्यपि यह जान लेना आवश्यक है कि सम्पादक के नाते उन्हें प्रयोगवाद के पुरस्कर्ता का श्रेय तो मिल गया पर नये काव्य का प्रतिनिधित्व करने में मुख्य कठिनाई यह कि आज उस काव्य-आन्दोलन की विविधताएं हमारे सामने हैं और बिलकुल नयी पीढ़ी ने नयी दिशाएं तलाशी हैं। इसलिए हम अज्ञेय के विचारों को इस परिप्रेक्ष्य में देखना चाहेंगे।

अज्ञेय जब 'तारसप्तक' के कवियों को 'राहों के अन्वेषी' कहकर संबोधित करते हैं तब वे रचना में प्रयोगशीलता की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं, जिसकी स्वयं में अहमियत है, क्योंकि एक ही जीवन के होते हुए, इस प्रयोगशील सामर्थ्य के कारण उसकी तस्वीरें विभिन्न लेखकों में अलग-अलग हो जाया करती हैं। काव्य के प्रति इस अन्वेषी दृष्टि का 'तारसप्तक' में केवल उल्लेख है पर दूसरे और तीसरे सप्तक में और फिर अन्य समीक्षाकृतियों में अज्ञेय ने अपना मत प्रतिपादित करना चाहा। उनके प्रिय प्रतीकों में 'नदी के द्वीप' को लिया जा सकता है जो उनके व्यक्तित्व को हमारे सामने उजागर करता है—'नदी के द्वीप में' रचनाकार के वैशिष्ट्य की स्वीकृति है। वह द्वीप है, धारा नहीं। क्योंकि बहना रेत होना है। द्वीप का समर्पण स्थिर है (हरी घास पर क्षण भर)। यही भाव 'यह द्वीप अकेला' (बावरा अहेरी) में भी आया है जो पंक्ति को समर्पित

तो होना चाहता है पर अपने गर्व के साथ। रचनाकार की आत्मचेतना में उसका अहं सम्मिलित है जहां वह स्वयं को किसी विशिष्ट स्थिति में पाता है और उसका व्यक्तित्व जागरूक है। 'आत्मनेपद' में अज्ञेय ने स्वीकारा है कि "वास्तव में आधुनिक कविता की विशेषता यह है कि वह कवि के व्यक्तित्व के साथ अधिकाधिक बंधी हुई होती जा रही है" (आत्मनेपद : पृ० 33)। कहा जाय तो अज्ञेय की कविताएं उनके व्यक्तित्व का प्रक्षेपण हैं और जाने-अनजाने हिन्दी के नये काव्य ने इसे कुछ समय तक स्वीकार किया पर बाद में विद्रोह। इस संदर्भ में 'त्रिशंकु' का एक निबन्ध 'रूढ़ि और मौलिकता', जो टी० एस० इलियट के 'ट्रेडिशन एण्ड द इंडीविजुअल टेलेण्ट' से प्रभावित है, व्यक्तित्व को जीवन-खंड से अलगाकर, स्व, अहं तथा रचनात्मक व्यक्तित्व में अंतर करता है।

अज्ञेय ने रचना में व्यक्तित्व को प्रमुखता दी और धीरे-धीरे उनके इर्द-गिर्द एक ऐसा वृत्त बना, जिससे हिन्दी साहित्य में शीतयुद्ध की शुरुआत हुई। 'तारसप्तक' में प्रगति-प्रयोग की जो सम्मिलित भूमि दिखाई देती है, वह आगे चलकर शिविरों में बंटने लगी। एक ओर वे प्रगतिवादी जो सामाजिक यथार्थ, प्रतिबद्धता की बात कह रहे थे। दूसरी ओर 'रचनाकार की स्वतन्त्रता' का नारा जिसे तथाकथित प्रयोगवादियों से जोड़ा गया। एक दिलचस्प बात यह कि हिन्दी में जो झगड़ा कभी प्रयोगवाद-प्रगतिवाद को लेकर चला था और जिसके बाद 'नयी कविता' नाम एक नये समन्वय पंथ के रूप में चला, वह अब एक दूसरे रूप में हमारे सामने है। एक ओर वे हैं जो कभी अज्ञेय को लेकर चले थे और आज उन्हें नकार रहे हैं। दूसरी ओर प्रगतिवादी शिविर में भी वाम को लेकर टकराहट है, प्रगतिवादी और जनवादी।

हिन्दी की प्रयोगवादी समीक्षा में एक ओर नलिनविलोचन शर्मा हैं तो दूसरी ओर अज्ञेय। पर नयी कविता के पहले दौर से जुड़े हुए कई ऐसे नाम हैं, जिनकी समीक्षाएं नये काव्य की समझ में हमारी सहायता करती हैं। इनमें तारसप्तक के वे वक्तव्य इतिहास की दृष्टि से उपयोगी हैं, जिनके माध्यम से नये काव्य का पहला चित्र हमें देखने को मिलता है। ये कवि अपना पृथक व्यक्तित्व रखते हुए भी स्वीकारते हैं कि इतिहास के दबावों में रचना की दिशा बदलती है और इसी से सामयिक संदर्भ उभरते हैं। एक समय-विशेष में यात्रा करने वाले दो रचनाकार इस ढंग से प्राचीन और आधुनिक भी हो सकते हैं कि एक उस क्षण में होकर भी नहीं है,क्योंकि समय के बदलते तेवरों का एहसास उसमें नहीं है--- अधिकांश उत्तर छायावादी गीत सृष्टि ऐसी ही है। पर जिन्हें अपने समय और इतिहास का भान है, वे भी सब एक जैसे नहीं हैं। एक वे जो केवल सामयिकता से उलझकर रह सकते हैं, अखबार की कतरन की तरह। पर वे भी हैं जो इतिहास की दौड़ती हुई पथरेखा पर दृष्टि डालते हैं। परंपरा के जीवन्त क्षणों का पुनर्मूल्यांकन करते हुए

उसकी प्रासंगिकता पर विचार करते हैं और जिनका आग्रह है कि उनकी रचना अपने समय का प्रामाणिक दस्तावेज तो बने पर इतिहास के लंबे दौर में उसका भी हिस्सा हो। ऐसे में ही आधुनिकता की सही पहचान हो सकती है, नहीं तो कुछ समय चलनेवाले आधुनिकतावादी विवाद को, रोज़-रोज़ बदलते फैशन की तरह समाप्त हो जाना ही है।

तारसप्तक के हस्ताक्षरों को बदली हुई सामाजिक स्थितियों का ज्ञान था और इसीलिए उन्होंने यह आग्रह भी किया कि परिवर्तित भावभूमि के साथ न्याय कर सकने के लिए काव्य के प्रति हमारी प्रतिक्रियाओं में भी तबदीली होनी चाहिए। बौद्धिकता को इसी क्रम में स्वीकारा गया जिसे गैररूमानी रचना की शुरुआत भी कहा जा सकता है। अस्वच्छन्दतावादी या गैरस्वच्छन्दतावादी दृष्टि को लेकर नयी समीक्षा ने अपनी यात्रा आरंभ की। यह बात और है कि कई नये कवि ऐसे हैं कि जिनकी कविताओं में आज भी रूमानी अदाएं देखी जा सकती हैं। यहां यह भी कहना होगा कि गैररूमानी नारा केवल एक ही दिशा में नहीं गया। जहां अज्ञेय इलियट की तर्ज पर रचना में व्यक्तित्व से बचाव की बात करते हैं, वहां मुक्तिबोध का आग्रह प्रतिबद्धता और सामाजिक यथार्थ के वरण पर है। जब हम तारसप्तक के कवियों के 1943 के मूल वक्तव्य और 1963 के पुनश्च वक्तव्य पर विचार करते हैं तो हमें मालूम होता है कि इन बीस वर्षों में नयी रचना इतनी रूपान्तरित हुई है कि उसने इन कवियों का मानस भी प्रभावित किया है और उनके वक्तव्य बदले हुए हैं।

दूसरा सप्तक तक नये काव्य की स्थिति में अधिक बदलाव आता नहीं दिखाई देता। उसमें अब भी थोड़े-बहुत रूमानी तेवर मौजूद हैं, खास तौर से धर्मवीर भारती में। कवियों में प्रतिबद्धता को लेकर चलनेवालों की संख्या अवश्य कम हो गई है। यहां स्वच्छन्दतावाद का विरोध तो है, पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि कविताओं में इसे कितना प्रमाणित किया जा सका है। शमशेर ने कला और समाज के संघर्ष को साथ-साथ रखकर देखने का आग्रह किया और एक प्रकार से रचना में प्रतिबद्धता को समर्थन दिया। सामाजिक संदर्भ में रचना को रखकर देखने की यह दृष्टि दूसरे तारसप्तक में लगभग अकेले कंठ की पुकार है, अन्य कवि रचना के स्वातंत्र्य की बात भी करते हैं। पर दूसरे सप्तक के बाद हिन्दी का रचना जगत काफी बदलने लगता है। नये काव्य का पूर्वाभास निराला का परवर्ती सामाजिक यथार्थवाला काव्य है। उसका प्रथम चरण पहले दो सप्तक हैं पर सन् 50 के आसपास फिर दृश्य बदलते हैं। डॉ० देवीशंकर अवस्थी ने 'विवेक के रंग' की भूमिका में इस बदलाव का जिक्र करते हुए कुछ प्रमाण दिए हैं: प्रतीक, आलोचना, कल्पना आदि का प्रकाशन। पर देश की आज़ादी के बाद का मोहभंग भी इसका एक कारण है।

आरंभ में हिन्दी नवलेखन में कविता का ज़ोर था और नयी समीक्षा प्रायः इसी के इर्द-गिर्द बनती-बिगड़ती रही। उसे काव्य-समीक्षा भी कहा जा सकता है। ५२ छठे दशक में नयी कहानी ज़ोर पकड़ती है। नये बादल (मोहन राकेश), जहां लक्ष्मी कैद है (राजेन्द्र यादव) आदि का प्रकाशन होता है। कहानी तथा अन्य पत्रिकाओं में कहानी-संबंधी बहस शुरू होती है, खास तौर से 'कहानी' पत्रिका में 'आज की कहानी' लेखमाला का उदय। कुछ लोग शिकायत करते हैं कि कविता और अन्य विधाओं के लिए हिन्दी में अलग-अलग समीक्षाएं नहीं विकसित हुईं। परिणाम यह हुआ कि कविता अन्य विधाओं पर हावी रही। समीक्षा के संदर्भ में मैं एक प्रश्न आरंभ में ही उठा चुका हूं कि इसे व्यापक अर्थ में ग्रहण किया जाना चाहिए। जहां तक विधाओं का सवाल है रचना अपनी समग्रता में समीक्षा का विषय है और किसी लेखक की सृजनात्मकता को पकड़ने के लिए हम सर्वप्रथम उसके समग्र व्यक्तित्व पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं। विधा का सवाल तब दूसरे स्थान पर आता है जिसमें कुछ विवरण या तफसील की बात उठती है। रचना पहले है: बिना विज्ञान द्वारा पाया गया सत्य, दर्शन का मौलिक चिन्तन, मूर्ति की भंगिमाएं, संगीत-नाद, चित्र का आशय या नृत्य की विभिन्न विधाओं का प्रतिपादन— किसी बिन्दु पर जाकर मिलते हैं जिसे हम रचना की मिलनभूमि भी कह सकते हैं या अन्तरावलम्बन।

हिन्दी में कविता, कहानी को लेकर आज़ादी के बाद जो आन्दोलन चले, लगा जैसे विधाएं अलग-अलग बंट गईं। सबके अपने झंडे या गण और कुछ ऐसे भी जो कविता-कहानी सभी में सेंध लगाने को तैयार। इसे उठाया, उसे गिराया— एक अजीब तरह का हुल्लड़। ऐसे में हिन्दी समीक्षा की सच्ची आवाज़ दब-सी गई और चीज़ें साफ नहीं नजर आती थीं। गफ़लत इतनी बढ़ी कि समीक्षा में ठेकेदारी चलने लगी और लोगों ने अपने दल बनाए—पारस्परिक भाई-चारा। प्रमाण के तौर पर कई ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं जहां सीमान्ती समीक्षा है। और तो और स्वयं अज्ञेय को इसका शिकार बनना पड़ा। ऐसे में यदि किसी ने संतुलन की बात की और संयोग से शिक्षाक्षेत्र से सम्बद्ध हुआ तो उसे अध्यापकीय आलोचना कहकर टाल दिया गया। पर एक लम्बी सूची है, जिसने मास्टरी के बावजूद हिन्दी नवलेखन और नयी समीक्षा को अपना सर्वोत्तम दिया है। हां, यदि इससे आशय जड़ और निष्प्राण आलोचना से है, तो हम सृजनात्मक समीक्षा का समर्थन करते हैं। 'आलोचना' के अंक चौवन में मैंने 'समीक्षा और सृजन' निबंध में विस्तार से चर्चा की है।

नयी कहानी और उसकी समीक्षा किन्हीं कारणों से भले देर में आई हो पर धीरे-धीरे उसका व्यक्तित्व उभरा और वह लगभग कविता के साथ-साथ बढ़ी। इतना ही नहीं, उसे यह श्रेय भी देना होगा कि संश्लिष्ट जीवन को कैद करने में उसने

नयी कविता से आगे बढ़ने की चेष्टा की। उसे एक लाभ यह मिला कि नये काव्य के साथ आधुनिकता, संत्रास, घुटन, आत्मनिर्वासन आदि के सवाल बहस का हिस्सा बन चुके थे। क्योंकि कहानी के आग्रह वर्णनात्मकता के साथ प्रतीकात्मक भी थे, इसलिए 'रूप' और 'आकार' के विषय में कुछ अधिक स्वतंत्रता है। 'एक जिन्दगी और' की भूमिका में मोहन राकेश ने लिखा है कि "आज की कहानी अपने प्रमुख प्रवाह में, यथार्थ की मांसल भूमि पर वर्तमान रहकर ही लिखी जा रही है।" इस संदर्भ में विचार किया जा सकता है कि यथार्थ के कितने रूप नयी कहानी में उजागर हुए हैं और उसकी रचना प्रक्रिया का स्वरूप क्या है! कथावस्तु, चरित्र, भाषा, संवाद, शिल्प आदि के जो पुराने चौखटे थे, उन्हें नयी कहानी-समीक्षा ने स्वीकार नहीं किया क्योंकि उसने जान लिया कि नया कहानीकार यथार्थ को उसकी विभिन्न छवियों में पकड़कर उसे विश्वसनीय ढंग से प्रस्तुत करने का यत्न कर रहा है और बिंब, मिथक, लय आदि के कविता से सम्बद्ध कई प्रश्न कहानी में अधिक प्रयोजन नहीं रखते। नये कहानीकारों ने नये कवियों की तरह अपनी रचना की सफाई में बहुत कुछ कहा और उससे कहानी-समीक्षा का रूप बना। कहानी की तुलना में उपन्यास, नाटक या अन्य विधाओं को लेकर गरमागरमी कम हुई। नामवर सिंह ने कविता, कहानी दोनों क्षेत्रों में काम किया।

हिन्दी नवलेखन में नयी समीक्षा का दूसरा वर्ग प्रगतिवादियों का है जो मार्क्सवादी चिंतन को लेकर चले, आज इनमें भी आपसी टकराहट है। 'सोशल साइन्टिस्ट' के पहले ही अंक में 'कविता के नये प्रतिमान' पर हमला किया गया। वाम, सामयिक, कथा, समारंभ, कथन, पहल, उत्तरार्द्ध आदि पत्रिकाएं प्रगतिवाद के आपसी मतभेदों को सामने लाती हैं। अमृतराय ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक भावबोध की संज्ञा' के अंतिम निबंध ने 'उलटी समझ के खतरे' में इस दर्द को व्यक्त किया है। प्रश्न किया जा सकता है कि जो प्रगतिवादी आन्दोलन 1936 में जनमा था वह सहसा लड़खड़ाया क्यों? और जब स्वतंत्र देश के नये समाज को बनाने में उसके समवेत स्वर की आवश्यकता है, तब वह छिन्न-भिन्न क्यों है? आज भी अकेली-अकेली आवाजें प्रतिबद्धता की बात कर रही हैं, पर जहां तक एकजुट होकर किसी विचार को रचना में प्रमाणित करने का प्रश्न है, खेद के साथ कहना पड़ता है कि प्रगतिवादी आंदोलन कुछ समय तक काफी शिथिल रहा। इधर फिर कुछ हलचल हुई है और अपने को 'असली प्रगतिवादी' कहनेवाले लोगों ने नक्कालों पर हमला तेज़ किया है। यहां यह जान लेना चाहिए कि साम्यवाद के दो मुख्य शिविरों में मार्क्स-लेनिनवाद की व्याख्या को लेकर जो टकराहट हुई, उसने भी भारतीय प्रगतिवादी आंदोलन को प्रभावित किया है। 'नवलेखन में वाम' (वाम) शीर्षक टिप्पणी में रमेश कुंतलमेघ ने रचना की

सामयिक स्थिति के विषय में कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न बहस के लिए उठाए हैं। 'समारंभ' के प्रवेशांक में चंद्रभूषण तिवारी का लेख 'समकालीन हिन्दी कहानी : भिन्नता के सही धरातल' भी द्रष्टव्य हैं। डॉ० रामविलास शर्मा की पुस्तक 'मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य' प्रगतिशील आन्दोलन की समझ के लिए विचारणीय है।

विचारों की इस टकराहट के बीच सबसे संतुलित स्वर मुक्तिबोध का है जिन्होंने अपने समीक्षा-निबंधों में जो कुछ कहा, उसे अपनी रचनाओं में प्रमाणित करना चाहा। 'कामायनी एक पुनर्विचार' में मुक्तिबोध ने समाजशास्त्रीय अध्ययन का सहारा लेते हुए 'कामायनी' को एक फैंटेसी के रूप में देखा। 'एक साहित्यिक की डायरी' में रचना को युग के संदर्भ में देखने के सूत्र मिलते हैं। 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष' में सामयिक लेखन के अंतर्विरोध पहचानने की चेष्टा है। 'कल्पना' में 'नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' पर लिखते हुए मैंने कहा था कि मुक्तिबोध प्रगतिवादी समीक्षा की राजनीतिक शब्दावली पर निर्भर रहने के ख़तरों से सावधान थे, इसलिए उन्होंने उसका एक नया मुहावरा पाने की चेष्टा की (कल्पना, फरवरी 72)। वे ईमानदारी के साथ इस रास्ते पर चले और इसमें संदेह नहीं कि नवलेखन और नयी समीक्षा के वे सबसे महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षरों में हैं। काव्य को एक सांस्कृतिक प्रक्रिया मानते हुए उन्होंने उसकी रचनाप्रक्रिया के संदर्भ में रचना के कतिपय स्तरों को खोजा और उनकी व्याख्या की (नयी कविता का आत्मसंघर्ष)। मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के संदर्भ में नवलेखन की पहचान की भी उन्होंने शुरुआत की। कला की स्वतंत्रता को जीवन-सापेक्ष मानकर उन्होंने नवलेखन के अधिकार और दायित्व का विवेचन किया। 'नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' में उनकी टिप्पणी है : "आज के युग में साहित्य का यह कार्य है कि वह जनता के बुद्धि तथा हृदय की इस भूख-प्यास (शोषण) का चित्रण करे और उसे मुक्ति-पथ पर अग्रसर करने के लिए ऐसी कला का विकास करे जिससे जनता प्रेरणा प्राप्त कर सके और जो स्वयं जनता से प्रेरणा ले सके। अतएव, निष्कर्ष यह निकला कि जनता के साहित्य के अंतर्गत सिर्फ एक ही प्रकार का नहीं, सभी प्रकार का साहित्य है" ('जनता का साहित्य किसे कहते हैं' लेख)।

चौथे-पांचवें दशक से अब तक नवलेखन के तेवर एक-जैसे नहीं रहे और सामाजिक दबावों में उसका स्वरूप बदलता रहा है। समीक्षा के बदलाव इतने स्पष्ट न होकर भी, यह संकेत करते हैं कि समय ने उसे प्रभावित किया है। रचना में तरह-तरह के आंदोलन जन्मे और उनकी एक लंबी सूची बनाई जा सकती है। महज कविता, कहानी से लेकर अकविता, अकहानी, ऐब्सर्ड कविता तथा नाटक तक। पीढ़ियों ने एक-दूसरे से अपने को अलगाना चाहा है। प्रयोगवाद से लेकर साठोत्तरी पीढ़ी तक इसमें शामिल है। 'फिलहाल' में अशोक वाजपेयी युवा लेखन

को साहस और उग्रता की पड़ताल से जोड़ते हुए नये आचार्यत्व की मुद्राओं पर हमला करते हैं। समीक्षा एक नया मुहावरा तलाशती रही है, इसमें संदेह नहीं। नवलेखन में इतना वैविध्य है और उसकी इतनी दिशाएं हैं कि सामाजिक परिवेश के भीतर उसका व्यक्तित्व पहचानना चाहिए। उसे आन्दोलनों, शिविरों, चंदरोज़ा नारों के बीच रखकर देखना रचना के सांस्कृतिक दायित्व की भी अवहेलना होगी। समकालीन कविता इसका प्रमाण है कि समवेत स्वर के साथ कवियों के अपने व्यक्तित्व भी होते हैं।

जीवन और रचना को लेकर हिन्दी में काफ़ी बहस हुई। आधुनिकता, मानवमूल्य, रचनाशीलता, रचना का प्रयोजन, प्रेषणीयता का प्रश्न, सामयिक संदर्भ आदि-आदि। यह कहना बेमानी होगा कि सब कुछ पश्चिम द्वारा संचालित होता रहा है और हम कठपुतली भर हैं। यह तो प्रकारांतर से समस्त नवलेखन की ही अस्वीकृति है। हां, बहस इस बात को लेकर हो सकती है कि रचना को अपने सामाजिक बदलाव में कितना हिस्सा लेना चाहिए? उसका सांस्कृतिक दायित्व क्या है? रचना कितनी स्वतंत्र है? परिवेश से वह कैसे लड़े आदि। नये लेखक रचना को जीवन के पास ले आए हैं, इसमें शक नहीं और नयी समीक्षा भी जीवन परिवेश को स्वीकारती है। आज यदि नये लेखक में कुछ भी अस्पृश्य नहीं है, तो समीक्षा का भी दायरा बढ़ा है। शमशेर ने अपनी डायरी में कहा है कि नवलेखन को आज के अवाम से जुड़ना होगा। नवलेखन और समीक्षा के संदर्भ में कई तरह के प्रश्न उठते हैं जिन पर जानदार बहस होनी चाहिए। पर मसले को केवल अकादमिक ढंग से नहीं सुलझाया जा सकता। रचना जीवन से घनिष्ठ रूप में जुड़ी है, इसलिए सर्वप्रथम जीवन की सही पहचान करनी होगी। समीक्षा का दायित्व गहन है और इसे पूरा करना ही होगा।

हिन्दी समीक्षा के नये संदर्भ

विवरण में न जाकर यदि हम सीधे ही हिन्दी समीक्षा पर दृष्टि डालें तो कुछ बातें साफ़ दिखाई देंगी। समीक्षा शब्द को प्राय: सीमित अर्थ में ग्रहण किया गया और उससे साहित्य-समीक्षा का ही आशय लिया गया। पर यह स्थिति बहुत शुभ नहीं रही क्योंकि इससे शुद्ध अथवा निरपेक्ष साहित्य के पक्षधरों को व्यर्थ ही प्रश्रय मिला और वे अपने मनमाने शास्त्र के सहारे साहित्य को परीक्षित करने के आग्रही बने। साथ ही विचारों की दुनिया पीछे छूटने लगी जो किसी भी साहित्य-समीक्षा को बौद्धिक आधार देती है, उसमें तटस्थता लाती है और उसे वैयक्तिक-भावुक प्रतिक्रियाओं से मुक्त रखती है। हिन्दी समीक्षा यदि साहित्य समीक्षा तक सीमित न रहकर, विचार जगत की विवेचना-परीक्षा में सक्रिय रहती तो इससे हिन्दी समीक्षा का आधार अधिक प्रशस्त होता। हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में यह भी अच्छा नहीं हुआ कि सृजन और समीक्षा को दो अलग-अलग वर्गों में रख दिया गया तथा कुछ ऐसी स्थितियां भी आईं जब उनकी दूरी बढ़ती गई। सृजन और समीक्षा को दो पृथक भूमियों का प्रत्यय मान लेने के कारण कई बार तो उन दोनों में संवाद की प्रक्रिया ही समाप्त होने लगी। रचनाकारों ने समीक्षकों की बात सुनने से इन्कार कर दिया और समीक्षक ने फतवे देने शुरू कर दिए। मानना होगा कि समीक्षक का कार्य आस्वाद को विकसित करना भी है और इस दृष्टि से लेखक तथा पाठक के बीच वह संवाद का वाहक बनता है। सच तो यह है कि किसी समाज में सृजन के साथ-साथ यदि समीक्षा की प्रक्रिया नहीं चलती तो रचना अपनी ऊंचाइयों पर पहुचने में कठिनाई का अनुभव करती है और उसके उचित विवेचन में भी बाधा पड़ती है। इतना ही नहीं, संस्कृति के विकास की प्रक्रिया समीक्षा के अभाव में अधूरी रह जाती है और गलत मूल्यों को प्रश्रय मिलता है। इस प्रकार एक व्यापक अर्थ में समीक्षा का दायित्व विचारों की परीक्षा, मूल्यों की सही तलाश और संस्कृति को विकसित करना भी है। ज़ाहिर है कि यहां श्रेष्ठ जीवन्त समीक्षा की बात कही जा रही है।

समीक्षा अपने युग के बदलाव का तिरस्कार करके नहीं जी सकती क्योंकि प्रतिमान युग की पीठिका पर बनते-बिगड़ते हैं। प्रायः इस भ्रांति का प्रचार किया जाता है कि समीक्षा के कुछ ऐसे निश्चित प्रतिमान होते हैं जिनसे किसी कृति को मूल्यांकित किया जा सकता है। यदि भारतीय साहित्यशास्त्र के इतिहास को ही लें, तो आज जो कुछ लिखित रूप में उपलब्ध है उससे ज्ञात होगा कि सर्वत्र उसका रूप एक जैसा नहीं रहा है। भरतमुनि का नाट्यशास्त्र प्रमाणित करता है कि देश में नाट्य-साहित्य की एक समृद्ध परम्परा थी। पर जब संस्कृति को अधिक वैविध्यपूर्ण होने का अवसर मिलता है तब श्रव्य काव्य और दृश्य काव्य साथ-साथ चलते हैं। नाट्यशास्त्र के साथ काव्यशास्त्र का निर्माण हुआ। जो लक्षणग्रंथ किन्हीं लक्ष्यग्रंथों के सहारे अग्रसर हुए थे, उनमें भी धीरे-धीरे बदलाव आया। उनमें निगति के क्षण भी आए, जब साहित्यशास्त्र विवरण-वृत्तान्त में जाकर अपने मूल उद्देश्य से भटक गया, तो वह अलंकार मूलक हो गया। प्लेटो के बहुचर्चित अनुकृति सिद्धांत को अरस्तू ने एक नया आयाम देने की कोशिश किसी बौद्धिक व्यायाम के रूप में की थी, इसे स्वीकार करना कठिन होगा। लगता है कि अरस्तू को यह एहसास हुआ होगा कि युग की स्थितियां किसी परिवर्तन की अग्रिम सूचना देने लगी हैं क्योंकि वह उस सिकन्दर का गुरु भी नियुक्त किया गया था, जिसने सिन्धु घाटी तक अपने साम्राज्य का विस्तार करना चाहा था। नाटकों के साथ महाकाव्यों की तुलना प्रमाणित करती है कि दृश्य के साथ श्रव्य का भी स्थान था। युग के दबाव में समीक्षा के बदलाव किसी श्रेष्ठ समीक्षक की मांग करते हैं जो आने वाले प्रवाह में इतना न बह जाय कि उसकी तटस्थता गायब हो जाये और वह नये प्रकाश से अपनी आंख मूंदकर केवल परम्परा की लकीर ही पीटता रहे। टी० एस० इलियट 'समीक्षा का कार्य' नामक निबंध के आरंभ में अपने एक पिछले वक्तव्य का हवाला देते हुए लिखते हैं; "नयी कृति आने के पूर्व वर्तमान व्यवस्था पूर्ण हो जाती है क्योंकि किसी नवीनता के आ टपकने के बाद, व्यवस्था को बनाए रखने के लिए सम्पूर्ण वर्तमान व्यवस्था को, चाहे जितना कम हो, बदलना पड़ेगा और इसलिए सम्बन्ध, अनुपात तथा प्रत्येक कलाकृति के मूल्यों का सबके साथ फिर से मेल बिठाया जाता है और नये-पुराने के बीच यही समानुरूपता है।"

स्पष्ट है कि युग के बदलते तेवरों में सृजन और समीक्षा में बदलाव होता है पर पुराने रिश्ते एकदम टूट नहीं जाते, उनमें कुछ-न-कुछ संबंध बना ही रहता है। जिस मार्क्सवादी समीक्षा को मार्क्स-एंगेल्स, लेनिन की राजनीतिक-आर्थिक मान्यताओं से जोड़ा जाता है, स्वयं उसका स्वरूप भी इतिहास के दबाव में थोड़ा बहुत बदलता रहा है। आरंभ में वर्ग-संघर्ष, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, सर्वहारा की विजय, पूंजीवाद की पराजय आदि के आग्रह थे और किसी सीमा तक 'पार्टी

साहित्य' पर ज़ोर दिया जाता था। पर धीरे-धीरे स्थिति में बदलाव आया, दल के अकुंश में शिथिलता आई और साहित्य समीक्षा भी उदार हुई। के॰पास्तोविस्की का ग्रंथ 'द गोल्डन रोज़' उदार मार्क्सवादी समीक्षा का एक अच्छा उदाहरण है। अपनी प्रथम कहानी की प्रेरणा के विषय में पास्तोविस्की एक सच्ची प्रेम घटना का जिक्र करते हैं और मानते हैं कि इस समय सोवियत समीक्षक मार्क्सवाद का एक नया सौंदर्यशास्त्र निर्मित करने के काम में गम्भीरता से जुटे हुए हैं जिसमें रूमानी कवियों तक को स्वीकारा गया है (प्राब्लम्स आफ़ मॉडर्न एस्थिटिक्स: पृ॰ 318)। समीक्षा का यह वृत्त स्वयं प्रमाणित करता है कि उसमें इतिहास के दबावों के कारण बदलाव आना स्वाभाविक है। समीक्षा के चिरन्तन प्रतिमानों की बात करना इतिहास की प्रवहमान धार को रोकने की व्यर्थ चेष्टा है क्योंकि संस्कृति के प्रवाह में जो नया ज्ञान-विज्ञान आएगा, वह समीक्षा को अछूता कैसे छोड़ जाएगा और सदियों पूर्व निर्मित शास्त्र को, आधुनिक साहित्य का समीक्षा-निकष उसी रूप में कैसे स्वीकार कर सकेगा ?

हिन्दी साहित्य की एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति यह रही है कि जब आधुनिक युग में समीक्षा को गम्भीरता से लिया गया, तब उसके पास अपनी अधिक पूंजी नहीं थी और उसे संस्कृत साहित्यशास्त्र का सहारा लेना पड़ा। आशा की जाती थी कि इस उन्नत शास्त्र परम्परा को आधुनिक युग के संदर्भ में नया रूप देने की चेष्टा की जायगी, पर ऐसा अधिक नहीं हो सका। बार-बार शास्त्र की दुहाई दी जाने लगी और इसके विरोध में प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी। तुलसी के रामचरितमानस में लवकुश काण्ड का जुड़ना खुद बताता है कि लोग ठोंक-पीटकर उसे आठ काण्डों वाला प्रबन्ध बनाना चाहते थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने संस्कृत काव्यशास्त्र को नये आलोक में देखने की बौद्धिक चेष्टा की, यद्यपि उनके नैतिक आग्रह उसमें पूरी आधुनिकता नहीं भर सके। उन्होंने कतिपय पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्तों को भी, हिन्दी में प्रवेश करने का यत्न किया। जब शास्त्र-विरोध के नाम पर संस्कृत लक्षण ग्रंथों को स्वीकारने में आपत्ति की गई तब हिन्दी समीक्षा एक दूसरी दिशा में बह निकली और पश्चिम के कई आयातित प्रतिमान अनजाने ही प्रवेश पा गए। हिन्दी समीक्षा अपनी देसी परम्परा को नये अर्थ दे सकने में असमर्थ थी और इसीलिए वह पश्चिम की ओर मुड़ी जिसे हम दूसरा अतिवाद कहेंगे। हिन्दी का अपना समीक्षाशास्त्र निर्मित होने में अनावश्यक विलम्ब के कई कारण हो सकते हैं; पर इससे एक हानि यह हुई कि हम अपनी ही परम्परा को नये आलोक में पर्याप्त समय तक देख नहीं सके। इस दृष्टि से हिन्दी स्वच्छन्दतावादी, छायावादी काव्य-चिन्तन हिन्दी समीक्षा के अपने प्रतिमानों की खोज करता दिखाई देता है। आचार्य वाजपेयी जैसे समीक्षकों ने कृति के भीतर जाकर उसे पकड़ना चाहा और इसके लिए उन्हें नये प्रतिमान निर्मित करने पड़े, जिसके बिना अन्तःप्रवेश संभव

नहीं था। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जब कबीर का आकलन करते हैं तब समीक्षा के नये प्रतिमान बनते हैं। बिल्कुल नये दौर में मूलतः कवि होते हुए भी, मुक्तिबोध ने एक साहित्यिक की डायरी, नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र आदि में हिन्दी समीक्षा के प्रतिमान बनाने की ईमानदार कोशिश की। काव्य की रचना-प्रक्रिया पर विचार करते हुए वे आपत्ति करते हैं कि कवियों को किसी लकीर का फकीर बनाया जाये। उनका कथन है; "सारे प्रश्नों का संबंध कवि के अन्तर्जगत से है। कवि से जब हम यह कहते हैं कि उसे ऐसा करना चाहिए और वैसा नहीं लिखना चाहिए तो वस्तुतः हम उनके अन्तर्जगत (और उसके अन्तर में स्थित जीवनमूल्य पद्धति) पर आक्षेप कर रहे हैं। इस प्रकार के आग्रह उसके अन्तर्जगत में संशोधन करने के आग्रह हैं" (नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृ० ८४)।

मुक्तिबोध 'कला के आभ्यन्तीकरण' पर बल देते हैं। पर वे मानते हैं कि सृजन की ऐकान्तिकता में भी सहचरत्व होता है, संग होता है। इस संग या महत्त्व के बिना सृजन संभव नहीं है। इतना ही नहीं, वे स्वीकारते हैं कि स्व से ऊपर उठना, खुद की घेरेबन्दी तोड़कर कल्पना सज्जित सहानुभूति के द्वारा अन्य के कर्म में प्रवेश करना मनुष्यता का सबसे बड़ा लक्षण है। '···संवेदनात्मक ज्ञान के आधार पर और ज्ञानात्मक संवेदनात्मक के आधार पर हम एक साथ तटस्थ और तन्मय अपने से परे और निमग्न, अपने से बाहर और अपने अन्दर एक साथ रहते हैं···।' मुक्तिबोध को एहसास है कि आज कवि-कर्म कितना कठिन है क्योंकि समाज एक जटिल स्थिति से गुजर रहा है। इसलिए वे समीक्षा मार्ग बनाने में सचेष्ट हैं और उसे विचारों की दुनिया के बीच से पाना चाहते हैं।

छायावाद युग में स्वच्छन्तावादी समीक्षा एक आकार ग्रहण कर रही थी जिसमें कृति और कृतिकार को भीतर से जानने का एक आग्रह किया गया था। कृति से अन्तःसाक्ष्य स्थापित करके ही इस प्रकार की समीक्षा संभव थी और कहा जा सकता है कि समीक्षक को एक समानान्तर यात्रा से गुज़रना था। इसके लिए एक विकसित संवेदन की ज़रूरत थी क्योंकि कवि के उन क्षणों को पकड़ना था जब वह अपने सृजन के दौर में था। हिन्दी स्वच्छन्दतावादी समीक्षा सदैव एकरूप नहीं रही। इसमें आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के क्लासिकी आग्रह भी देखे जा सकते हैं। डॉ० नगेन्द्र अन्तर्मुखी प्रवृत्ति को स्वीकारते हुए भी आरंभ में मनोविज्ञान और फिर प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्र का सहारा लेते हैं। आचार्य वाजपेजी की स्वच्छन्दतावादी समीक्षा में कृति की अन्तःयात्रा का जो आग्रह है, उसके लिए 'हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी' का यह वक्तव्य विचारणीय है : "हम किसी पूर्व निश्चित दार्शनिक अथवा साहित्य सिद्धान्त को लेकर उसके आधार पर कला की परख नहीं कर सकते। सभी सिद्धान्त सीमित हैं परन्तु कला के

लिए कोई भी सीमा नहीं है। कोई बन्धन नहीं है जिसके अन्तर्गत आप उसे बांधने की चेष्टा करें। सिर्फ सौंदर्य ही उसकी सीमा या बन्धन है किन्तु उस सौंदर्य की परख किन्हीं सुनिश्चित सीमाओं में नहीं की जा सकती' (पृ० ७९)।

यह वक्तव्य कृति को भीतर से पहचानने का आग्रह करता दिखाई देता है। आचार्य शुक्ल से यह थोड़ी अलग हटकर समीक्षा है। पर जब हम बीसवीं शती के चौथे दशक पर दृष्टि डालते हैं तो ज्ञात होता है कि हिन्दी साहित्य का क्षितिज बदलने लगा था और आज़ादी के बाद तो एक दूसरा ही माहौल हमारे सामने आया। सन् 36 में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हो चुकी थी। तारसप्तक का प्रथम संस्करण 1943 में प्रकाशित हुआ, जिसे काव्य की बदलती हुई दिशा मानकर यदि हम आगे बढ़ें तो साहित्य के परिवर्तित स्वर की एक रूपरेखा उभर सकती है। यद्यपि यह भी जान लेना होगा कि चतुर्थ दशक में स्वयं छायावादी काव्य नयी भंगिमाएं ग्रहण करने लगा था और निराला, पंत की परवर्ती रचनाएं इसका प्रमाण हैं। 'तारसप्तक' में अज्ञेय के सम्पादकीय वक्तव्य 'विवृत्ति और पुरावृत्ति' में कवियों को 'राहों का अन्वेषी' कहकर उनका परिचय दिया गया। यह स्वीकारते हुए भी कि उनकी विचारभूमि अलग-अलग है, सम्पादक अज्ञेय ने लिखा कि 'काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण उन्हें समानता के सूत्र में बांधता है।' इसी क्रम में जब अज्ञेय ने प्रयोगशीलता का नाम लिया तब आचार्य वाजपेयी आदि समीक्षकों ने नये हिन्दी काव्य के प्रथम चरण को 'प्रयोग-वाद' का लेबिल लगाकर सम्बोधित किया। इसे अस्वीकारते हुए अज्ञेय ने दूसरे तारसप्तक में कहा कि प्रयोगवाद अनचाहे और अकारण ही उनके मत्थे मढ़ दिया गया। उन्हीं के शब्दों में : "प्रयोग का कोई वाद नहीं है। हम वादी नहीं रहे, नहीं है; न प्रयोग अपने रूप में इष्ट या साध्य है।'

अज्ञेय ने प्रयोग को 'वाद' के रूप में स्वीकारने से इन्कार किया। उन्होंने प्रयोग के नैरन्तर्य को भी स्वीकारा और प्रयोगशीलता को रचनात्मकता से जोड़ा। वास्तव में दूसरे तारसप्तक की भूमिका में प्रयोग संबंधी विवेचन ही मुख्य है। समीक्षा के नये संदर्भों की पहचान के लिए यह जानकारी उपादेय होगी कि 1943 में देश अपनी अंतिम लड़ाई स्वतंत्रता के लिए लड़ रहा था और ऐसे में तारसप्तक का आरंभिक वक्तव्य जब उसकी कोई झलक नहीं देता तब क्या हम यह समझें कि रचनाकार धार से अलग जी रहे थे। पर तारसप्तक के सम्पादक अज्ञेय के वक्तव्य और उनकी रचनाओं से लगभग विपरीत दिशा में जाते हुए वे कवि और उनके वक्तव्य हैं जिन्हें प्रथम तारसप्तक में स्थान मिला है। यह जानकारी भी उपादेय है कि उस समय अज्ञेय को छोड़कर शेष सभी कवि कमोबेश रूप में मार्क्सवाद से जुड़े हुए थे; गजानन माधव मुक्तिबोध, नेमिचन्द जैन, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर, रामविलास शर्मा।

अर्थात् काव्य की मुख्य दिशा 'सामाजिक यथार्थ' से सम्बद्ध थी, यह बात दूसरी है कि आगे चलकर इसमें से कुछ कवियों ने अपनी लाल प्रतिबद्धता से अपने क़दम वापस लौटा लिये। सामाजिक यथार्थ और समाजवादी यथार्थ में प्रतिबद्धता के कारण जो अन्तर होता है, उसके विस्तार में न जाकर हम इतना ही कहना चाहेंगे कि अज्ञेय के अतिरिक्त अन्य सभी कवि अपने वक्तव्यों में उस समय जीवन के प्रति एक अरूमानी, यथार्थभरी दृष्टि का आग्रह कर रहे थे। ये वक्तव्य हिन्दी समीक्षा के नये संदर्भों को जानने-पहचानने के लिए उपादेय हैं क्योंकि कवियों ने आगे चलकर उन्हें विकसित किया और नयी समीक्षा की नींव डाली। यह प्रश्न दूसरा है कि अपनी कविताओं के ज़रिए उन्होंने इसे कितनी शक्ति से प्रमाणित किया, अथवा उनमें आगे चलकर कितना बदलाव आया। मसलन मुक्तिबोध और रामविलास शर्मा ऐसे हैं जिन्होंने प्रतिबद्धता-संबंधी अपनी मान्यताओं में उलट-फेर करना आवश्यक नहीं समझा, शेष में काफ़ी बदलाव आया। यदि संक्षेप में नये हिन्दी काव्य के आरंभिक दौर में उसी के साथ-साथ उपजने वाली समीक्षा के नये संदर्भों पर दृष्टि डाली जाये तो एक तस्वीर उभरती दिखाई देगी।

नेमिचन्द्र जैन साहित्य की प्रगतिशीलता में विश्वास रखते हैं किन्तु उन्हीं के शब्दों में 'कला की सच्ची प्रगतिशीलता कलाकार के व्यक्तित्व की सामाजिकता में है, व्यक्तिहीनता में नहीं।' उन्होंने यह आवश्यक समझा कि प्रगतिशील होने की मांग का अर्थ है कि कवि जीवन को और अपने दृष्टिकोण को बदले। वे कवि के सामाजिक दायित्व को मानते हैं पर शायद वे राजनीतिक पंक्तिबद्धता और अन्तर्गुहावासी दृष्टि के ख़तरों से भी परिचित हैं और कहते हैं : "आज के हिन्दी के अधिकांश काव्य में या तो उच्छ्वास है या फिर पैटर्न। दूसरे शब्दों में या तो व्यक्ति को अपने से अवकाश नहीं या वह बुद्धि के जाल में इतना उलझा है कि भीतर मन को देखने की क्षमता नहीं। दोनों ही रास्तों से कविता की हत्या होती है।" यह एक उदार दृष्टि है। तारसप्तक के कवियों में डॉ० रामविलास शर्मा के बाद मुक्तिबोध का नाम लिया जाएगा, जिन्होंने हिन्दी समीक्षा को मार्क्सवादी आधार दिए। वे मार्क्सवाद के प्रति अपने झुकाव के कारण होने वाले बदलाव का ऋण स्वीकार करते हैं। पर वे उसका सरलीकरण नहीं करते, उसकी संश्लिष्टताओं में जाते हैं : "मैं कलाकार की स्थानान्तरगामी प्रवृत्ति (माइग्रेशन इंस्टिक्ट) पर बहुत ज़ोर देता हूं। आज के वैविध्यमय, उलझन से भरे, रंग-बिरंगे जीवन को यदि देखना है, तो अपने वैयक्तिक क्षेत्र से एक बार तो उड़कर बाहर जाना ही होगा। बिना उसके, इस विशाल जीवन-समुद्र की परिसीमा, उसके तट-प्रदेशों के भूखण्ड आंखों से ओट ही रह जायेंगे। कला का केन्द्र व्यक्ति है, पर उसी केन्द्र को अब दिशा-व्यापी करने की आवश्यकता है। फिर युगसन्धि काल में कार्यकर्त्ता उत्पन्न होते हैं, कलाकार नहीं, इस धारणा को वास्तविकता के द्वारा ग़लत साबित

करना ही पड़ेगा।"

मुक्तिबोध ने इस संक्षिप्त वक्तव्य के लगभग अंत में 'प्रयोग' शब्द का प्रयोग किया है और उनके अंतिम वाक्य हैं : "मेरी ये कविताएं अपना पथ ढूंढने वाले बेचैन मन की ही अभिव्यक्ति हैं। उनका सत्य और मूल्य उसी जीवन स्थिति में छिपा है।" क्योंकि फिलहाल तारसप्तक के वक्तव्यों की ही चर्चा हो रही है, इसलिए मुक्तिबोध के समीक्षा चिन्तन पर विस्तृत विचार बाद में। यहां यह संकेत अवश्य करना चाहूंगा कि मुक्तिबोध ने अपनी तारसप्तक संबंधी मान्यता को पूर्ण विकास दिया और बड़ी बात यह कि अपनी रचनाओं में उन्हें प्रमाणित भी किया।

भारतभूषण अग्रवाल ने अपने वक्तव्य में स्वीकार किया कि वे कभी मार्क्स-वाद को आज के लिए रामाबाण मानते थे, पर अब नहीं। वे कविता का उद्देश्य व्यक्ति की इकाई और समाज की व्यवस्था के बीच के सम्बन्ध को स्वर देना मानते हैं। इसके लिए समाज की शोषण सत्ता से लड़ने के लिए वे कविता को एक मूल्यवान अस्त्र तक स्वीकारते हैं। गिरिजाकुमार माथुर रूमानी दुनिया के द्वारा नये काव्य में प्रवेश पाने वाले कवि हैं। वे 'टेक्नीक' की बात भी करते हैं। मुक्तछन्द उन्हें प्रिय है और यहां वे निराला के समीपी हैं। वातावरण-निर्माण, क्लासिकी पद्धति, मुक्तछन्द का विवेचन, ध्वनि-विधान पर अधिक ध्यान देने के पक्षपाती हैं। प्रभाकर माचवे का यह वक्तव्य ध्यान देने योग्य है कि 'कवितागत रोमांस और यथार्थ, एक ही कोण की दो भुजाएं हैं। रोमांस स्वस्थ मन का भावनात्मक रुख है, यथार्थ उसी की बुद्धिगत परिकल्पना।'

डॉ० रामविलास शर्मा प्रतिबद्ध कॉमरेड-समीक्षक हैं, यद्यपि अपने वक्तव्य में उन्होंने समीक्षा-प्रतिमानों की चर्चा शायद जानबूझकर नहीं की, पर काव्य में उन्हें 'भदेसपन' या देसी चीजें पसन्द हैं, इसे उन्होंने स्वीकारा है। मार्क्सवादी समीक्षा के सिलसिले में उन पर अलग से विचार किया जा सकता है। अंतिम वक्तव्य कवि अज्ञेय का है। इसके पूर्व सम्पादक के नाते वे आरंभ में भी बोल चुके थे। वे 'कवि का कथ्य' उसकी आत्मा का 'सत्य' मानते हैं और इसकी अपनी व्याख्या करते हैं। आज कविता के पाठकों का समाज बदल गया है, इसका एहसास भी कवि अज्ञेय को है और संभवतः वे इस माध्यम से आस्वाद के प्रश्न की ओर संकेत करना चाहते हैं। वे कहते हैं: 'जो व्यक्ति का अनुभव है, उसे समष्टि तक उसकी सम्पूर्णता में कैसे पहुंचाया जाये यही पहली समस्या है जो प्रयोगशीलता को ललकारती है। इसके बाद इतर समस्याएं हैं।' यहां सहज ही प्रेषणीयता का प्रश्न उपस्थित होता है जिससे कवि अपने ढंग से जूझते हैं और समीक्षक अपने तरीके से। इसी सिलसिले में अज्ञेय भाषा में नये संदर्भ जगाने की बात कहते हैं। वक्तव्य का अंतिम अंश यौनाक्रान्त जीवन की चर्चा करता हुआ मनोविज्ञान-संबंधी कुछ प्रश्न

उठाता है। अज्ञेय हिन्दी समीक्षा की एक अन्य दिशा की ओर इशारा करते हैं जिसे उन्होंने अपने विचारों के द्वारा विकसित किया और काव्य में भी स्थापित करना चाहा।

हिन्दी में विचारों की जो दुनिया चौथे दशक में बदलने लगी थी उसे एक लम्बी प्रक्रिया की शुरुआत मानना चाहिए क्योंकि जब अरसे बाद 1966 में प्रथम तारसप्तक का दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ और 'पुनश्च' नाम से कवियों ने नये वक्तव्य जोड़े तो उन्होंने अपनी पिछली कई मान्यताओं के बदलाव की सूचना दी। इससे हिन्दी समीक्षा की क्रमश: बदलती और विकसित होती स्थिति का संकेत मिलता है। यदि हम संकलित कवियों के क्रम से ही शुरुआत करें तो नेमिचन्द ने तारसप्तक के सम्पादक पर ही सबसे तीखा हमला किया। उन्होंने समीक्षा की वर्तमान स्थिति के प्रति भी असंतोष व्यक्त किया। मुक्तिबोध की 'पुनश्च' के अन्तर्गत टिप्पणी है कि "व्यक्ति स्वातंत्र्य की वास्तविक स्थिति केवल उनके लिए है जो उस स्वातंत्र्य का प्रयोग करने के लिए सुपुष्ट आर्थिक आधार रखते हों।" प्रकारान्तर से मुक्तिबोध ने तथाकथित व्यक्ति स्वातंत्र्य को नकार दिया। उन्होंने कठिन कवि-कर्म की ओर इशारा करते हुए लिखा कि "व्यक्ति की सच्ची आत्मपरीक्षा उसकी आध्यात्मिक शक्ति की परीक्षा, सबसे प्रधान समय, उस इम्तिहान का सबसे नाजुक दौर यही आज का युग है।" कविता में आत्म संवेदन ने किस प्रकार समाज के व्यापक छोर छूने की कोशिश की, यह प्रमाणित करता है कि मुक्तिबोध अन्तर्बाह्य के विरोधी पक्षों के प्रकाशन में आस्था रखते हैं। भारतभूषण ने अब कविता को अस्त्र मानने से इनकार कर दिया, पर उसे एक नये यथार्थ की आवाज़ माना। गिरिजाकुमार ने 'पुनश्च' के लंबे वक्तव्य में विस्तार से कुछ बातें कीं। अपने कुछ विचारों को उन्होंने 'नयी कविता : उपलब्धि और सीमाएं' में पल्लवित किया। प्रभाकर माचवे ने 'पुनश्च' में कोई नयी बात नहीं कहीं। डॉ० रामविलास शर्मा ने अपनी बहुप्रचारित मान्यता दुहराई कि "मनुष्य और जिस हद तक कवि मनुष्य है, वह भी सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में ही अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है।" अज्ञेयजी ने दूसरे संस्करण की भूमिका 'परिदृष्टि प्रतिदृष्टि' में कुछ सफाई दी है और सृजनशील प्रतिभाओं के वैशिष्ट्य को स्वीकारा है। अपने वक्तव्य 'पुनश्च' में वे 'अर्थवान' शब्द को एक बड़ी समस्या मानते हैं। शब्द की तराश की उनके काव्य में इसीलिए भरपूर चेष्टा भी है।

प्रयोगवाद और फिर नयी कविता के भीतर से जनमने वाले हिन्दी समीक्षा के नये संदर्भ आरम्भ में वैयक्तिक प्रतिक्रियाओं के रूप में प्रकाशित हुए थे, पर क्रमश: उनसे नयी समीक्षा की दुनिया उभरने लगी थी। इसमें हिस्सा लेने वाले शुद्ध समीक्षक नहीं थे, यह एक अच्छी बात है। एक प्रकार से यह रचना की सहयात्रा है, और यह इसलिए संभव हो सका क्योंकि हिन्दी समीक्षा अपने पैरों

पर खड़ी होकर स्वयं को स्थापित करना चाहती थी । इस अभियान में जो लोग सम्मिलित हुए, संयोगवश वे कुछ रूपों में उसके सृजन पक्ष से भी सम्बद्ध थे। यह यात्रा विचारों की दुनिया से आरम्भ हुई क्योंकि अब तक हिन्दी का औसत पाठक भी समझने लगा था कि रचना समय के यथार्थ का लेखा-जोखा है और उसके विवेचन में अग्रसर होने वाली समीक्षा को इसका ध्यान रखना होगा । समीक्षा को व्यापक सांस्कृतिक आधार देने की यह एक सक्रिय चेष्टा है, जिसमें मार्क्सवादी पहले भी हिस्सा ले चुके हैं, पर उनके सोचने का ढंग दूसरा है। वे पूंजीवाद, बुर्जुआ, सर्वहारा, वर्ग संघर्ष आदि शब्दों का प्रवेश साहित्य में करते हैं, जिसके विरोध में एक प्रतिक्रिया भी हुई। हिन्दी की मार्क्सवादी समीक्षा को राजनीतिक शब्दावली तक सीमित न कर, उसे विस्तार देने की ईमानदार कोशिश मुक्तिबोध ने की। उन्होंने वस्तु के साथ कलातत्व का भी सम्यक् विवेचन किया और काव्य को मूलत: एक सांस्कृतिक प्रक्रिया मानकर उसे नये आयाम दिये। इसके लिए उन्होंने मनोविज्ञान का भी सहारा लेने में संकोच नहीं किया और वे काव्य संबंधी सौंदर्यशास्त्रीय प्रश्न उठा सके । 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध' में मुख्य दृष्टि ऐतिहासिक-सांस्कृतिक कही जा सकती है और 'नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र' में अधिक सौंदर्यशास्त्रीय। कला को वे एक ओर आत्मपरक प्रयास कहते हैं, दूसरी ओर उसकी स्वतंत्रता को जीवन-सापेक्ष मानते हैं (नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र : 'रचनाकार का मानवतावाद' लेख) । इस प्रकार वे नयी समीक्षा को एक संतुलित वैचारिक आधार देते हैं। विचारों की दुनिया से जुड़े बिना हिन्दी की नयी समीक्षा बेजान हो जाएगी, इसे मुक्तिबोध बखूबी जानते हैं। इसलिए उन्होंने उसके लिए एक सुदृढ़ आधार बनाया और प्रश्नों की गहराइयों में भी गए। रचना-प्रक्रिया पर उनके विचार महत्त्वपूर्ण हैं। मुक्तिबोध के बाद नामवर सिंह, रमेश कुन्तल मेघ, विश्वंभर उपाध्याय आदि ने मार्क्सवादी समीक्षा का सौंदर्य शास्त्र बनाने में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। प्रतिबद्धता को इस क्रम में एक नया विस्तार मिला और समाजशास्त्र-सौंदर्यशास्त्र की सम्मिलित भूमि बनी।

हिन्दी की नयी समीक्षा अपने आरम्भिक दौर में यथार्थ के बारे में पृथक प्रतिक्रियाएं व्यक्त करने के कारण प्रगति और प्रयोग के शिविरों में बंटी। पर यह शीतयुद्ध इस दृष्टि से लाभकर सिद्ध हुआ कि धीरे-धीरे उसमें एक सन्तुलन आया। वह कई अतिवादों से मुक्त होने की कोशिश करने लगी जिसमें भारतीय साहित्यशास्त्र और पाश्चात्य विचारों के अतिरिक्त दबाव सम्मिलित थे। समीक्षा के साथ-साथ अनेक ऐसे प्रश्न उठाये गये जो इसके पहले इस रूप में नहीं उभरे थे। इनकी लम्बी सूची बनाई जा सकती है। समीक्षा के जो प्रश्न प्राय: साहित्य और सृजन तक सीमित कर दिये जाते थे, उन्हें बड़े जीवन प्रश्नों से जोड़ा गया। संभवत: इसी का परिणाम है कि नयी समीक्षा ने कृतियों को सामयिक संदर्भों में पहचानना

चाहा और समीक्षाशास्त्र बनाने की शास्त्रीय कोशिश नहीं की। व्यावहारिक समीक्षा के भीतर से प्रतिमान सहज ही निर्मित होने लगे। एक प्रकार से समीक्षा का चक्र ही उलट गया। कविता के साथ-साथ नवलेखन में कहानी और उपन्यास की जो सक्रियता बढ़ी, उसने भी नयी समीक्षा में सार्थक योग दिया। यदि कुछ थोथे नारों को छोड़ दिया जाये तो कथा-साहित्य में कुछ ऐसे सवाल उठाये गये जिन्हें अब तक नज़रअन्दाज़ किया जाता था। जब प्रजातांत्रिक युग में सामन्तवादी नायक की मृत्यु हो गई तब नायक का प्रश्न साहित्य के सन्दर्भ में गौण हो गया। यह भी ज़रूरी नहीं रहा कि कथा ही मुख्य आधार बनकर घटनाक्रम को आगे ले जाए। हिन्दी नाटक यद्यपि आज भी अन्य विधाओं की तुलना में किंचित पिछड़ा है, पर उस पर भी नयी दृष्टि डालने के यत्न किये गये। कुल मिलाकर हिन्दी समीक्षा ने नयी ज़मीन तोड़ी। यद्यपि यह शिकायत भी की जा सकती है कि प्रचार के नये साधनों में शिविरबद्धता भी बढ़ी है और तटस्थता आना शेष है। किंतु इन प्रश्नों को भारतीय समाज की वर्तमान स्थिति के संदर्भ में देखना चाहिए।

सामयिक जटिलताओं के बीच पनपने वाली रचना की प्रक्रिया संश्लिष्ट हो गई है, इसलिए उससे साक्षात्कार का काम सरल नहीं रह गया। तभी आज की समीक्षा कृति को खण्ड-खण्ड करके देखने की बात नहीं करती, वह उसे समग्रता में पकड़ना चाहती है। इसके लिए शास्त्र बोझ भी बन सकता है, अगर वह अन्तर्दृष्टि के बिना काम में लाया गया है। अक्सर 'अध्यापकीय अलोचना' कहकर नये साहित्य के लेखक फब्तियां कसते हैं। समीक्षा अपनी सामयिकता को जब अच्छी तरह पहचान लेती है तब मूल्यांकन की दुहरी प्रक्रिया आरंभ होती है। हम समकालीन रचना को ठीक से पकड़ते हैं, और पुनर्मूल्यांकन की भी शुरुआत होती है, जो जीवन्त परम्परा से जुड़ने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है। परम्परा और विद्रोह में दूरी तब ज्यादा दिखाई देती है जब इन दोनों को सही परिप्रेक्ष्य में नहीं देखा जाता। डॉ० देवराज जैसे समीक्षक इसीलिए क्लासिकी ढंग के रोमांसों को पसन्द करते हैं। नयी समीक्षा क्योंकि रचनाओं के भीतर से उपजी है इसलिए उसने उन प्रश्नों पर ज्यादा गहराई से विचार किया जिनका सीधा सम्बन्ध सामयिक नवलेखन से है। इनमें आई० ए० रिचर्ड्स, इलियट, डी० एस० लारेंस आदि से प्राप्त किए गए विचारों से उपजने वाले प्रश्न भी हैं। डॉ० जगदीश गुप्त ने 'नयी कविता' पत्रिका के माध्यम से रिचर्ड्स के हवाले से 'अर्थ की लय' का एक ऐसा ही प्रश्न उठाया था। पर ज्यादातर सवाल नवलेखन के इर्द-गिर्द घूमते हैं; जैसे बिम्ब की इतनी विस्तृत चर्चा का कारण है, वक्तव्यों की कविता से मुक्ति या सपाटबयानी का निषेध। यहीं पर संकेत कर देना भी ज़रूरी है कि जब कभी नयी रचनाएं नयी भूमि तोड़कर आने की कोशिश करती हैं साधारण पाठक के लिए उनके संवेदन से मेल बिठा पाना आसान नहीं होता।

ऐसे समय में समीक्षा एक सांस्कृतिक दायित्व निभा सकती है कि वह रचना को पाठक तक पहुंचाए। एफ० आर० लेविस ने कविता के इस संकट पर विचार करते हुए लिखा है कि यह रचना के लिए एक चुनौती है (न्यू बियरिंग्स इन इंग्लिश पोयट्री : पृ० 171)।

मूल्यांकन और नवमूल्यांकन अथवा पुनर्मूल्यांकन के प्रश्नों को अलग-अलग करके देखने का अधिक औचित्य नहीं है। ये सभी प्रश्न संस्कृति और इतिहास के जीवित होने के लक्षण हैं और इस विषय में ट्यानबी से सहमत होना पड़ेगा कि जब किसी संस्कृति के आत्म-परीक्षण की शक्ति कम हो जाती है तब उसमें एक विचित्र पराभव का भाव अनजाने ही घर कर जाता है। यह बात उसने 'हेलेनिज़्म' नामक ग्रंथ में यूनानी संस्कृति पर विचार करते हुए कही है। कभी-कभी ऐसा होता है कि हम किन्हीं कारणों से किसी सामयिक कृति से अभिभूत तक हो जाते हैं, पर कुछ समय बाद हम स्वयं महसूस करते हैं कि उस पर नयी दृष्टि डाली जाए। इस प्रकार हम उन कालजयी कृतियों पर भी नये सिरे से विचार कर सकते हैं जो बहुत पहले रची गई थीं। कोई पुरानी कृति आज भी हमारे बीच किन्हीं कारणों से बनी हुई है, इतना ही पर्याप्त नहीं है। नये आलोक में यह देखना भी आवश्यक है कि आखिर सदियों पूर्व रची गई उस रचना की सार्थकता, प्रासंगिता आज क्या है? नये संदर्भों और नयी प्रासंगिकता की तलाश पुनर्मूल्यांकन की दिशा में इसलिए एक सार्थक यात्रा है क्योंकि हम अपनी लम्बी परम्परा को एक प्रकार से नये सिरे से परिभाषित करना चाहते हैं। पुनर्मूल्यांकन की प्रक्रिया संस्कृति से किस प्रकार सम्बद्ध है, इसके लिए मैं डॉ० गणेश त्र्यंबक देशपांडे का हवाला देना चाहूंगा। उन्होंने काव्यचर्चा के स्वतंत्र संसार का उल्लेख करते हुए 'भारतीय साहित्यशास्त्र' में लिखा है—"संस्कृत और प्राकृत में महाकाव्य, मुक्तक और गद्यप्रबंधों का बड़े पैमाने पर निर्माण इस स्वतंत्र चर्चा का कारण था। यह वाङ्मय इतना विपुल था कि उसकी चर्चा शुरू होते ही पहले जो नाट्यांगभूत नियम थे उनका स्वतंत्र शास्त्र में परिणत होना आरंभ हुआ।" इस सन्दर्भ में डॉ० पी० बी० काणे का मत भी उद्धृत किया गया है।

आज के सन्दर्भ में पुनर्मूल्यांकन की प्रक्रिया अधिक व्यापक रूप ग्रहण कर चुकी है और वह हल्के हाथों का काम नहीं है। मसलन यदि आज हम तुलसी को आधुनिक संदर्भ में देखना चाहें तो सर्वप्रथम हमें उस युग की जटिलताओं की परीक्षा करनी होगी जब कवि ने काव्य-रचना की थी। संभव है कवि की जीवन-यात्रा के प्रमुख सूत्र ी हमारे लिए सहायक हों। तुलसी एक जनकवि हैं और वे जीवन के गहरे सम्पर्क में आए थे। उनकी एक निश्चित सामयिकता रही होगी, जिसके अभाव में कृतियां यथार्थ के संस्पर्श से वंचित हो जातीं तथा अनुभूति की प्रामाणिकता भी बिखर जाती। पर तुलसी केवल सामयिकता में रह जाने वाले

कवियों में नहीं हैं, इसलिए उन पर आध्यात्मिकता के धार्मिक आवरण चढ़ाए बिना, उन्हें आधुनिक संदर्भों तक लाया जा सकता है। जो लोग पुनर्मूल्यांकन को केवल मूर्तिभंजन का पर्याय समझते हैं, वे शायद उसके मूल आशय को नहीं जानना चाहते। हर कृति, यदि वह महत्त्वपूर्ण और सार्थक है तो इतिहास की आवश्यकता की एक अनिवार्य उपज होती है। यदि ऐसा न होता तो भक्तिकाल में भी तरानों का ज़ोर होता और छायावादी काव्य में भी रामधुन सुनाई देती। पुनर्मूल्यांकन परम्परा की सच्ची पहचान के साथ-साथ संस्कृति के विवेक की प्रौढ़ता और समझ को भी बताता है। मसलन साहित्य के इतिहास में कई भ्रांतियां अनजाने ही प्रचलित हो जाती हैं और हम उन्हें ढोते रहते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सन्तकाव्य को एक बार पुनः नये आलोक में प्रतिष्ठित किया जिसे कभी काव्य की सीमा से बाहर कर दिया गया था। इसी प्रकार रीतिकाल को प्रायः सामन्तवाद युग से जोड़कर शृंगारकाल बता दिया जाता है, जबकि उसके कलारूप की छानबीन अपेक्षित है। भक्तिकाव्य के व्यापक जन-आन्दोलन का भी नये परिवेश में पुनर्मूल्यांकन करना होगा। डॉ० रामविलास शर्मा ने आधुनिक काव्य के जातीय तत्त्वों को रेखांकित किया है। हिन्दी समीक्षा में जो नये संदर्भ सहयात्रा के माध्यम से पाए गए हैं, उनसे रचना का देसी व्यक्तित्व यदि ईमानदारी से उभारा जाए तो प्रेषणीयता का प्रश्न भी किसी सीमा तक सुलझाया जा सकता है और मूल्यांकन, नवमूल्यांकन, पुनर्मूल्यांकन की सार्थक प्रक्रिया को भी शक्ति मिल सकती है।

□□
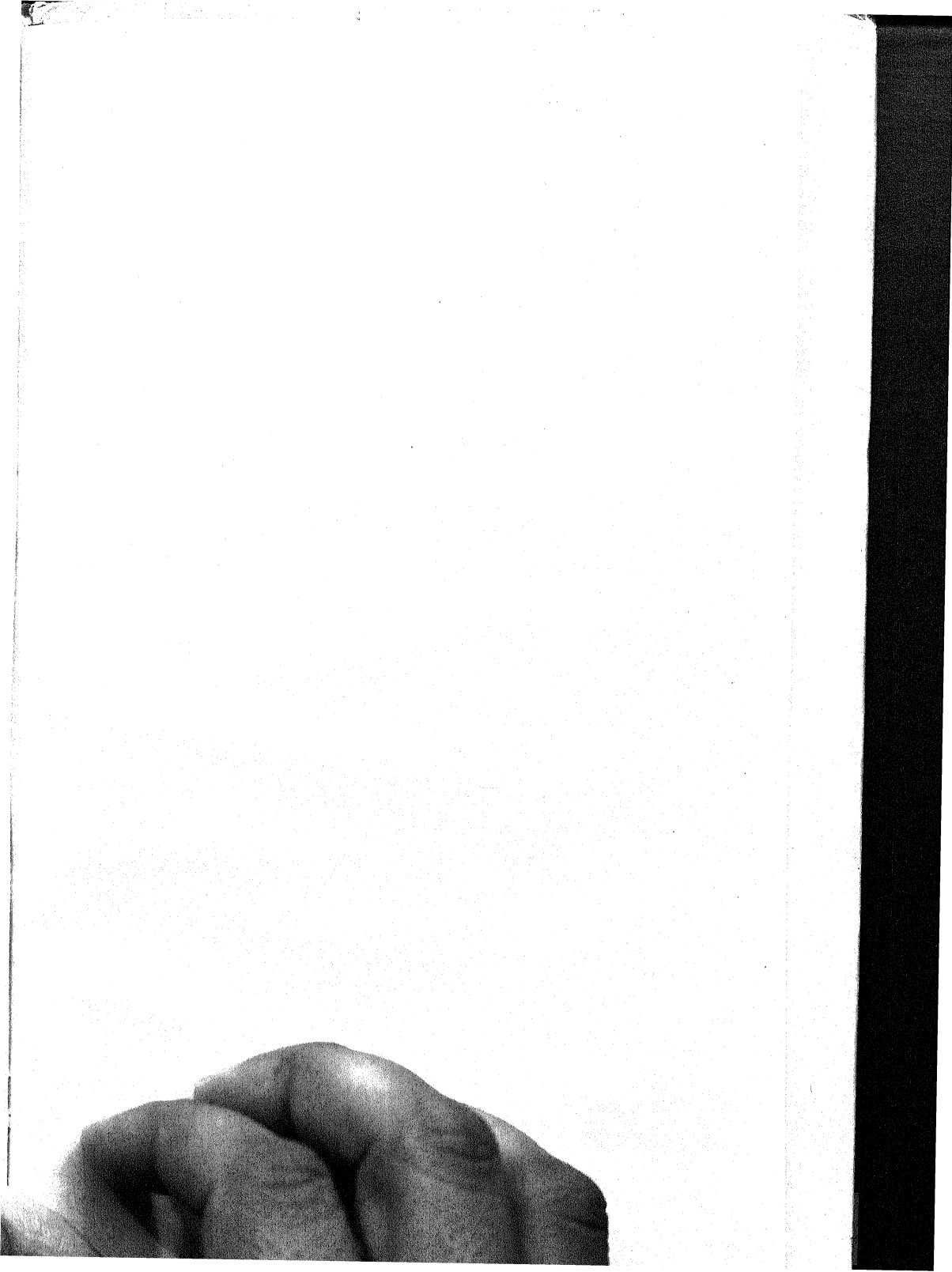
कवियों में नहीं हैं, इसलिए उन पर आध्यात्मिकता के धार्मिक आ
बिना, उन्हें आधुनिक संदर्भों तक लाया जा सकता है। जो लोग पुन
केवल मूर्तिभंजन का पर्याय समझते हैं, वे शायद उसके मूल आ
जानना चाहते। हर कृति, यदि वह महत्त्वपूर्ण और सार्थक है तो
आवश्यकता की एक अनिवार्य उपज होती है। यदि ऐसा न होता त
में भी तरानों का ज़ोर होता और छायावादी काव्य में भी रामधुन
पुनर्मूल्यांकन परम्परा की सच्ची पहचान के साथ-साथ संस्कृति
प्रौढ़ता और समझ को भी बताता है। मसलन साहित्य के इतिहास में
अनजाने ही प्रचलित हो जाती हैं और हम उन्हें ढोते रहते हैं। आ
प्रसाद द्विवेदी ने सन्तकाव्य को एक बार पुनः नये आलोक में प्रतिष्ठि
कभी काव्य की सीमा से बाहर कर दिया गया था। इसी प्रकार री
प्रायः सामन्तवाद युग से जोड़कर शृंगारकाल बता दिया जाता है,
कलारूप की छानबीन अपेक्षित है। भक्तिकाव्य के व्यापक जन-आन्द
नये परिवेश में पुनर्मूल्यांकन करना होगा। डॉ० रामविलास शर्मा
काव्य के जातीय तत्त्वों को रेखांकित किया है। हिन्दी समीक्षा में
सहयात्रा के माध्यम से पाए गए हैं, उनसे रचना का देसी व्यक्तित्व
दारी से उभारा जाए तो प्रेषणीयता का प्रश्न भी किसी सीमा तक सु
सकता है और मूल्यांकन, नवमूल्यांकन, पुनर्मूल्यांकन की सार्थक प्र
शक्ति मिल सकती है।

प्रेमशंकर

○ एक परिचित नाम जो हिन्दी स्वच्छन्दतावादी काव्य से लेकर भक्तिकाव्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन तथा नयी रचनाशीलता तक की लम्बी यात्रा तय कर आया है।

○ 1930 के बसन्त में नैमिष क्षेत्र में जन्म। संघर्ष करता युवक किसी प्रकार काशी पहुंच गया जहां विश्वविद्यालय की शिक्षा पूरी की। एक आत्मनिर्भर विद्यार्थी जीवन। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी छात्रवृत्ति प्राप्त।

○ अध्यापन की शुरुआत लखनऊ क्रिश्चियन कालेज से जहां 'युग-चेतना' के सम्पादन में हिस्सेदारी। पिछले तीस-पैंतीस वर्षों से सागर में। नवलेखन, विशेषतया नयी कविता के लगभग साथ-साथ चलते हुए। सोचने-विचारने की कई दिशाएं— भारतीय समाज-संस्कृति, साहित्य का समाजशास्त्र, भक्तिकाव्य, आधुनिक साहित्य, नयी कविता आदि।

○ भारतीय साहित्य-संस्कृति के अध्यापक रूप में इटली के प्रमुख विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त पेरिस, लंदन, कैम्ब्रिज, आक्सफोर्ड की यात्रा।

प्रकाशन

प्रसाद का काव्य / हिन्दी स्वच्छन्दतावादी काव्य / कामायनी का रचना-संसार / भक्ति-चिन्तन की भूमिका / भक्तिकाव्य की भूमिका / रामकाव्य और तुलसी / कृष्णकाव्य और सूर / भक्तिकाव्य की सामाजिक चेतना / आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी / नयी कविता की भूमिका / सृजन और समीक्षा / पहाड़ी पर बच्चा (कविता-संकलन)। इस समय नयी कविता पर तीन खंडों में काम करते हुए और एक उपन्यास लेखन के क्रम में।

—**प्रेमशंकर**
ब-16, विश्वविद्यालय परिसर
सागर-470003